रिसाला अजायबुल इल्म

अर्थात्

भगवत्-ज्ञान के विचित्र रहस्य

आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह साहिब वेदी-कृत

प्रकाशक

श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ

प्रथमावृत्ति २००० कापी एप्रिल, १९२४

मूल्य (विना डाक-खर्च)

साधारण संस्करण, विना जिल्द ॥

विशेष संस्करण, सजिल्द ।॥

प्रकाशक
श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग,
२५. मारवाड़ी गली, लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

विषय-सूची

ॐ

निवेदन

आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह वेदी की प्रसिद्ध उर्दू-रचनाओं में से एक रचना 'रिसाला अजायबुल इल्म' है, जो अपने ढंग, शैली, गंभीर विचार और सूक्ष्म अतिसूक्ष्म भावों को सरल-अति-सरल किंतु युक्ति-युक्त रीति से दर्शाने में अनमोल ग्रंथ है, और वास्तव में अद्भुत ज्ञान का भंडार है, जैसा उसके नाम से स्पष्ट हो रहा है। बाबा साहिब ने इस ग्रंथ को अपने जीवन-काल में ही सन् १९०० ईस्वी से पूर्व प्रकाशित किया था, जो हाथोंहाथ इतना शीघ्र बँट गया वा बिक गया कि थोड़े ही काल बाद उसकी कापी बाबा साहिब के अति प्रिय भक्तों तक को भी प्राप्त होने न पाई, जैसा कि उनके मुख्य शिष्य राय हरनारायण साहिब की भूमिका से स्वतः स्पष्ट हो रहा है। इसके बाद उक्त राय साहिब की सहायता और लाहौर के बाबू हरलाल साहिब के परिश्रम से इस ग्रंथ की पुनरावृत्ति श्रीयुत् शिवव्रतलाल वर्मन द्वारा सन् १९११ में उनके पत्र सरस्वती भंडार में प्रकाशित की गई, जो अशुद्धियों से पूर्ण होने के कारण पाठकों को ठीक-ठीक लाभ न पहुँचा सकी। इस त्रुटि से पीड़ित होकर राय हरनारायण साहिब होममिनिस्टर रियासत कश्मीर ने इस पुनरावृत्ति को अनेक प्रकार से शुद्ध करके अपनी भूमिका व प्रस्तावना के साथ ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज के पट्ट शिष्य श्री आर० एस०, नारायण स्वामीजी के पास प्रकाशनार्थ सन् १९२४ में भेज दिया। उन दिनों उक्त स्वामीजी महाराज अपने पूज्य गुरु स्वामी राम के अंग्रेज़ी व उर्दू लेखों तथा व्याख्यानों के हिंदी-

अनुवाद में और साथ ही इसके अपनी भगवद्गीता की सविस्तर व्याख्या की पूर्ति में अत्यंत प्रवृत्त थे, इसलिये कई वर्षों तक वह इस प्राप्त पुनरावृत्ति का दत्त-चित्त से अध्ययन तक न कर सके। उक्त कार्य की पूर्ति के बाद जब स्वामीजी को सन् १६२६ के अंत में अवकाश मिला, तो सन् १६३० के आरंभ में उन्होंने इस ग्रंथ की तीसरी आवृत्ति को अति उत्तम आकार, उर्दू के कठिन शब्दों के कोष और सर्व प्रकार से शुद्ध तथा सुंदर ढंग के साथ श्रीरामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग द्वारा प्रकाशित करा दिया। इसके थोड़े ही काल बाद इस अनमोल ग्रंथ के हिंदी-अनुवाद की माँग पाठकों से निरंतर आने लग पड़ी। परंतु श्रीस्वामीजी महाराज उस समय स्वामी रामतीर्थजी महाराज के अंग्रेज़ी व्याख्यानों और लेखों का नई शैली से आठ जिल्दों में संपादन और प्रकाशन करने के कार्य में अपना सारा समय अर्पण कर चुके थे, इसलिये अवकाश के अभाव के कारण उन्होंने इस ग्रंथ के हिंदी-अनुवाद का काम सबसे पहले लखनऊ-नगर के प्रसिद्ध हिंदी-लेखक श्रीयुत चंद्रिकाप्रसाद जिज्ञासु को सौंपा। उन्होंने बड़े परिश्रम से इस पुस्तक के प्रथम अध्याय का अनुवाद किया, जो देखा जाने पर अनेक ग़लतियों से पूर्ण पाया गया। उन्होंने पुनः इसके शुद्ध अनुवाद का प्रयत्न किया, पर उर्दू-भाषा व शब्द अति कठिन होने से अपने को इस कार्य की पूर्ति में असमर्थ पाकर उन्होंने इसे लौटा दिया। इसके बाद लीग के भूतपूर्व मंत्री बाबू बेनीप्रसाद साहब भटनागर एम्० ए०, एल्० टी० हेडमास्टर, अमीनाबाद हाईस्कूल को उपर्युक्त स्वामीजी ने यह कार्य-भार सौंपा। उक्त मंत्री महोदय ने बड़े प्रेम और परिश्रम से इसे शीघ्र तैयार तो कर दिया, किंतु उसकी भाषा अनेक स्थलों पर अशुद्ध पाई गई, और अनुवाद व भाव भी स्थान-स्थान पर अस्पष्ट पाये गये, जिससे प्रकाशन के पूर्व उसका संशोधन होना अत्यावश्यक था।

परंतु उक्त मंत्री महोदय ने संशोधन से पूर्व ही उसे वापस ले लिया। इसके बाद लीग के प्रसिद्ध सदस्य कानपुर के बाबू हृदयनारायणजी को उक्त स्वामीजी ने यह कार्य-भार सौंपा। बाबू हृदयनारायणजी ने यद्यपि उक्त दोनों महाशयों से बढ़कर उत्तम और सरल रीति से इसका अनुवाद तैयार कर दिया, पर वह भी अनेक स्थानों पर (न केवल स्वामीजी से, किंतु स्वयं अनुवादक महोदय से) अस्पष्ट, असली भाव से किंचित् विपरीत और अशुद्धियों से युक्त पाया गया, इसलिये उसे भी प्रकाशनार्थ स्वीकार न किया गया। इस प्रकार सबके परिश्रम से जब असफलता प्राप्त हुई, तो स्वामी राम के उक्त ग्रंथों के संपादन व प्रकाशन-कार्य से निवृत्त होने के बाद अंत में स्वामी नारायणजी महाराज को ही लाचार इस कार्य में प्रवृत्त होना पड़ा। और, स्वामीजी ने उक्त श्रीयुत बाबू चंद्रिकाप्रसाद जिज्ञासु तथा बाबू हृदयनारायणजी के अनुवादों को सम्मुख रखकर आरंभ से अंत तक इस अनमोल ग्रंथ का अनुवाद समाप्त किया। अनुवाद के समय एक दिन तो श्रीयुत चंद्रिकाप्रसाद जिज्ञासुजी और आरंभ से अंत तक बाबू हृदयनारायणजी निरंतर उपस्थित रहे। इनके अतिरिक्त क़सूर के प्रसिद्ध उर्दू-फ़ारसी के विद्वान् लाला कृपारामजी और देहली के रामभक्त बाबू विश्वेश्वरनाथजी भी पूरा काल सम्मिलित रहे। इस प्रकार एक मास तक निरंतर परिश्रम और परस्पर सोच-विचार के बाद यह अनुवाद समाप्त हुआ, और बार-बार इसका अवलोकन भी उसी मार्च मास में ही किया गया। तत्पश्चात् एक ही मास के भीतर-भीतर इसका शीघ्र प्रकाशन भी करा दिया गया।

आज यह देखकर हमें ख़ुशी हो रही है कि इस दुष्प्राप्य वेदांत-रत्न का इतने भारी परिश्रम के बाद अनुवाद होने पर लीग उसे हिंदी-पाठकों की भेंट करने के योग्य हो सकी।

पुस्तक के विषय में यों तो अनुवादक महोदय श्रीआर० एस्०

नारायण स्वामीजी महाराज ने अपनी भूमिका में स्पष्ट रूप से अपने भाव इस प्रकार प्रकट कर दिये हैं कि "ऐसा उत्तम ग्रंथ और ऐसे गंभीर भावों से युक्त तथा सूक्ष्म व अनुभवसिद्ध युक्तियों से पूर्ण उन्हें अपने जीवन-भर में कोई दूसरा ग्रंथ देखने में नहीं आया।" पर मैं इससे बढ़कर तो और क्या लिख सकता हूँ, केवल इतना ही संकेत-पूर्वक कह सकता हूँ कि "हाथ कंगन को आरसी क्या", जो भी एक बार इस पुस्तक का आद्योपांत अध्ययन ध्यान-पूर्वक करेगा, वह उक्त स्वामीजी महाराज के कथन में किंचित् भी अत्युक्ति नहीं पाएगा।

इस ग्रंथ के अनुवादक महोदय (श्रीआर० एम्० नारायण स्वामीजी महाराज) तथा उनके सहायक लखनऊ के श्रीयुत चंद्रिकाप्रसाद जिज्ञासु, कानपुर के बाबू हृदयनारायणजी, देहली के रामभक्त बाबू विश्वेश्वरनाथजी तथा क़सूर के लाला कृपारामजी को धन्यवाद दिये विना मैं इस निवेदन को समाप्त नहीं कर सकता, क्योंकि यह सब उन प्यारों के अटूट परिश्रम का फल है, जो आज लीग पाठकों की सेवा में पहुँचाने के योग्य हुई है। ये उक्त महाशय केवल लीग के ही धन्यवाद के पात्र नहीं, बल्कि समस्त हिंदी-संसार के भी धन्यवाद के योग्य हैं, क्योंकि जो भी कोई इस अनुवाद को दत्त-चित्त से पढ़ेगा, विना भारी लाभ प्राप्त किये नहीं रह सकेगा; और विचारवानों को तो इसके अध्ययन से जीते जी मुक्ति का लाभ अवश्य अनुभव होगा। ईश्वर करे, सब इस अनमोल रत्न से सुशोभित और लाभान्वित हों। तथास्तु।

लखनऊ।
२०-४-१९२४

भवदीय
सुरजनलाल पांडे (उपनाम शांतिप्रकाश)
मंत्री श्रीरामतीर्थ-पब्लिकेशन लीग.

भूमिका

(ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी रामतीर्थजी महाराज के पट्ट शिष्य श्रीमन्नारायण स्वामीजी की लेखनी से)

कुछ काल हुआ, जब राय हरनारायण साहिब रिटायर्ड होम-मिनिस्टर, रियासत कश्मीर ने रिसाला अजायबुल इल्म की छपी कापी, जो बाबू शिवब्रतलाल वर्मन ने रिसाला सरस्वती-भंडार में प्रकाशित की थी, संशोधित करके अपनी भूमिका व प्रस्तावना के साथ मेरे पास भेजी। इस संशोधित कापी को पुनः-पुनः ध्यान-पूर्वक पढ़ने से जो आनन्द प्राप्त हुआ, वह लेखनी की सीमा से बाहर है। यद्यपि भीतरी आनन्द पुनः-पुनः उकसा रहा था कि शीघ्र इस अमूल्य रत्न को उत्तम रूप व आकार में लाकर पाठकों की भेंट किया जाय, परन्तु स्वामी रामतीर्थ व बाबा नगीनासिंह साहिब की अन्य पुस्तकों के संशोधन व प्रकाशन-कार्य ने इसका अवसर शीघ्र न दिया। इतने में बम्बई के शुद्ध-चित्त व पवित्रात्मा राम-भक्त मियाँ रोशन मुहम्मद साहिब दर्शनार्थ लेखक को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते लखनऊ आ पहुँचे। उक्त बाबा नगीनासिंह साहिब की रचित पुस्तक वेदानुवचन ने इनके हृदय को पहले ही से रँग रक्खा था, और स्वामी रामतीर्थ की मस्ती-भरी पुस्तकों के अध्ययन ने इनके चित्त को पूर्णतया प्रफुल्लित कर रक्खा था। दो-चार दिन सत्संग करने के बाद जब उनके आगे रिसाला अजायबुल इल्म की बातचीत हुई, तो उनके चित्त में इस ग्रन्थ के पढ़ने की रुचि व उमंग उमड़ पड़ी। और, यह ग्रन्थ कुछ दिन के लिये अध्ययनार्थ उन्हें देना पड़ा। चूँकि प्रकाशित पुस्तक में अनेक अशुद्धियाँ थीं, जो यद्यपि

स्थान-स्थान पर संशोधित की गई थीं, तथापि अधिक संशोधन की आवश्यकता रखती थीं, इसलिये उक्त मियाँ साहिब से अनुरोध किया गया कि अध्ययन करते समय जहाँ-जहाँ इस ग्रंथ में शब्दों का संशोधन उचित दीखे, वहाँ-वहाँ वह भी कर दिया जाय। इस पर मियाँ साहिब ने न केवल उक्त संशोधन ही किया, बल्कि आरंभ से अंत तक इसकी शुद्ध लिपि लिखकर मुझ लेखक के पास भेज दी, ताकि इसकी पुनरावृत्ति में लेखक को दिक़्क़त न पड़े। इसके साथ-साथ कठिन शब्दों का कोश* भी भेज दिया। उक्त मियाँ साहिब ने तत्ववेत्ता मुसलमानों की वेदांत-विषय पर रचित अनेक पुस्तकें पढ़ रक्खी थीं, परंतु जो आनंद उनको इस पुस्तक व वेदानुवचन के अध्ययन से मिला, वह अवर्णनीय है। उनके प्रेम-भरे परिश्रम का फल यह मिला कि लेखक ने शुद्ध कापी पाते ही उसकी पुनरावृत्ति और अधिक संशोधन के पश्चात् शीघ्र प्रकाशन का कार्य आरंभ कर दिया, जो थोड़े ही काल में पूर्ण हो गया। इस प्रकार लेखक इस अमूल्य रत्न को सबकी भेंट करने के योग्य हो सका।

तत्त्व के जिज्ञासुओं ने यदि इस अनमोल मोती को अपनाया, और इसके अध्ययन से अपने चित्त को ख़ूब आनंद-प्रसन्न किया, तो लेखक के परिश्रम का उद्देश्य पूरा हो जायगा। ईश्वर करे, इस अनमोल रत्न ने जिस प्रकार लेखक का चित्त आनंदित व प्रफुल्लित किया है, उसी प्रकार अन्य पाठकों का भी करे।

ग्रंथ के विषय में केवल इतना लिख देना पर्याप्त होगा कि वेदान्त-विषय पर भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनेक पुस्तकें पढ़ डालीं, परंतु गंभीर से गंभीर रहस्यों को खोलने में और सूक्ष्म से सूक्ष्म संशयों को दूर

---

* यह कोश उर्दू के कठिन शब्दों का होने से उर्दू-पुस्तक में दिया गया है, यहाँ उसकी आवश्यकता न होने से नहीं दिया गया।

करने में जिस प्रकार यह ग्रंथ युक्ति-युक्त, विचार की श्रेणी से बद्ध और सरलता से पूर्ण पाया गया, अभी तक कोई अन्य ग्रंथ देखने और सुनने में नहीं आया।

नारायण स्वामी

भूमिका

(आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंहजी बेदी के योग्य शिष्य राय हरनारायण साहिब रिटायर्ड होम-मिनिस्टर, रियासत काश्मीर की लेखनी से)

(१) आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंहजी महाराज की रचनाओं में से एक रचना "रिसाला अजायबुल इल्म" अर्थात् "भगवत्-ज्ञान के विचित्र रहस्य" है, जिसे बाबाजी ने अपने जीवन-काल में ही प्रकाशित कराया था, और जो हाथों-हाथ बिक जाने के कारण दुष्प्राप्य हो गई थी। यहाँ तक कि बाबा साहिब के पास एक भी कापी न रह गई थी। इस प्रथम संस्करण की एक कापी मुझे एक बार एक सज्जन ने उपहार के रूप में भेंट की, और मैंने उसका बहुत आदर किया, तथा बहुत सँभालकर रक्खा। कुछ ज्ञानवान् सज्जनों ने अध्ययनार्थ कुछ दिन के लिये इस पुस्तक को मुझसे लिया और वापस लौटा दिया। फिर स्वर्गवासी बाबू हरलाल साहिब भूतपूर्व नाज़िर, ज़िला लाहौर ने (जिन्होंने बाबाजी महाराज की रचना वेदानुवचन को प्रथम बार प्रकाशित कराया था) मुझसे इस पुस्तक को प्रकाशनार्थ कुछ काल के लिये माँगा, जो सहर्ष दी गई। परंतु उक्त बाबू साहिब धनाभाव के कारण इसका प्रकाशन स्वयं न कर सके, इसलिये उन्होंने बाबू शिवव्रतलाल वर्मन एम्० ए०, सम्पादक रिसाला साधु को इसका प्रकाशन-भार सौंप दिया, जिन्होंने अपने सरस्वती-भंडार-नामक मासिक पत्रिका के अगस्त मास १९११ के नंबर में प्रकाशित कर दिया, जो इस समय मिल रहा है।

(२) इस पुस्तक की मूल कापी जो मेरे पास थी, उसे जिस व्यक्ति ने अंतिम बार मुझसे लिया था, लौटाने की कृपा नहीं की, इसलिये उस मूल के साथ इस वर्तमान प्रति का मिलान नहीं किया जा सका। बाबू शिवव्रतलाल वर्मन की प्रकाशित प्रति में जो बहुत-सी अशुद्धियाँ छप गई थीं, वे इस वर्तमान प्रति में संशोधित कर दी गई हैं, और कई स्थानों पर अस्पष्ट शब्दों को स्पष्ट भी कर दिया गया है।

बाबाजी महाराज का उद्देश्य इस पुस्तक के प्रकाशन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनकी यह रचना अरबी और फ़ारसी पढ़े उर्दू-भाषा के जाननेवालों के लिये और विशेषतः उन मुसलमानों के लिये थी, जिनको तसव्वुफ़ अर्थात् वेदांत से प्रेम है। इसीलिये इस पुस्तक में अरबी और फ़ारसी के क्लिष्ट शब्द, जो साधारण उर्दू जाननेवालों के लिये बहुत ही कठिन प्रतीत होते हैं, पाए जाते हैं। इन सब कठिन शब्दों को सरल शब्दों में बदलना मानो पुस्तक को नए सिरे से लिखना है, इसलिये इसकी भाषा में हस्तक्षेप नहीं किया गया।

हरनारायण

ॐ

प्रस्तावना

(आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंहजी बेदी के योग्य शिष्य राय हरनारायण साहिब रिटायर्ड होम-मिनिस्टर, रियासत कश्मीर की लेखनी से)

(१) इस पुस्तक की रचना का उद्देश्य यह पाया जाता है कि अप्रत्यक्ष परमेश्वर को प्रत्यक्ष सिद्ध करके दिखलाया जाय कि समस्त नाम और रूप उसी की कल्पना और वही है। और फिर अभ्यास द्वारा जिज्ञासु को उसके अपने भीतर विज्ञान-स्वरूप से दिखलाया जाय कि वही विज्ञान, जिससे मनुष्य सोचता, विचारता और मालूम करता है, आत्मरूप है, और कोई अन्य ईश्वर नहीं है।

(२) बाबाजी महाराज ने पूरे ब्योरे के साथ इस बात को दर्शाया है कि समस्त सृष्टि, दृश्य जगत्, केवल ज्ञान का प्रकाश है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु जो मूर्तिमान् होती है, उसका ज्ञान उस वस्तु के रचयिता के हृदय में होता है, जिस प्रकार प्याले के रूप का ज्ञान कुम्हार के मन में और कुर्सी-मेज़ का बढ़ई के मन में होता है। व्यक्त होने के बाद भी कोई वस्तु मालूम नहीं हो सकती, जब तक उसकी ज्ञान-जन्य आकृति पहले हृदय में विद्यमान न हो जाय। जैसे अँधेरे में मेज़ मौजूद होने पर भी दिखाई नहीं देती, बल्कि उसके देखने के वास्ते पहले प्रकाश की आवश्यकता है, फिर आँख की, और वह भी शुद्ध और स्वस्थ दशा में होनी चाहिए, और फिर अंतःकरण की वृत्ति आँख से निकलकर जब मेज़ के तद्रूप होती है, तब वृत्ति रूपी मेज़ से मनुष्य जानकार होता है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान-मात्र से जिस वस्तु का स्पष्टीकरण हुआ था, फिर उसकी जानकारी भी ज्ञान-

जन्य आकृति से ही होती है। और, यह ज्ञान सदैव विद्यमान रहता है। जाग्रत्, स्वप्न में तो विस्तार के साथ प्रत्यक्ष है, स्वप्न-रहित निद्रा अर्थात् घनसुषुप्ति की दशा में संकुचित वा घनीभूत रहता है। यह नित्यप्रति हमारे अनुभव में आता है कि ध्यान वा ख़्याल के समय, चाहे जाग्रत् हो चाहे स्वप्न अवस्था, ख़्याल करनेवाला ख़्याल से अपने आपको अलग नहीं देखता, वरन् ख़्याल रूप ही हो जाता है।

(३) अभ्यास और समाधि का मुख्य तात्पर्य यही है कि ख़्याल करनेवाले और ख़्याल में विवेक उत्पन्न हो जाय, अर्थात् ख़्याल करते समय ख़्याल का साक्षी अपने आपको ख़्याली वस्तुओं से पृथक् द्रष्टा देखे, और जो वस्तुएँ ख़्याली या कल्पित हो रही हों, वे पृथक् कल्पित व भासमान दिखाई दें।

(४) अपने अंतिम व्याख्यान में बाबाजी महाराज ने इसी ज्ञान के दो भाग करके दिखाए हैं— एक ज्ञान अर्थात् साक्षी, जिसको ज्योति के नाम से दिखाया है, और दूसरा ख़्याल वा मनोवृत्तियाँ जो भासमान पदार्थ हैं। ज्ञान का दूसरा व पिछला भाग आधेय (गुण) ज्ञान है और प्रथम भाग आधार (गुणी) ज्ञान। आधार और आधेय दोनों मिले-जुले प्रतीत होते हैं। विवेकी उनको भिन्न-भिन्न देख लेते हैं। यही ज्ञान है, यही आत्मानुभव है। इस विवेक को प्राप्त करके कि "मैं ज्ञान-ज्योति हूँ, और वृत्तिरूप ज्ञान मेरा गुण है", ज्ञानी पुरुष निश्चित और आप्तकाम (पूर्णकाम) हो जाते हैं। जिस प्रकार सर्वव्यापक महान् आकाश घट या मट की उपाधि से परिच्छिन्न नहीं हो जाता, उसी प्रकार साक्षी आत्मा भिन्न-भिन्न अंतःकरणों या शरीरों के कारण विच्छिन्न नहीं हो जाता। वह एकरस, सर्वत्र विद्यमान है। किंतु जिसको आत्मज्ञान नहीं है, वह घटाकाश के समान अपने आपको महान् आकाशरूप चेतन आत्मा से पृथक् और

परिच्छिन्न ख़्याल करता है। किंतु जब अज्ञानावरण—जो घटाकाश के रूप में मिट्टी से बना हुआ है, और मनुष्य के रूप में अविद्या की आवरण शक्ति से बना हुआ है—ज्ञान से दूर होता है, तो ज्ञानी को निश्चय होता है कि साक्षी आत्मा जो उसमें है, वही सर्वव्यापक रूप है, और कभी पृथक् नहीं हुआ। और, जो उसका अंश वृत्तिरूप ज्ञान है, वह भी अपने आधार से कभी पृथक् नहीं हुआ। जिस तरह अधिष्ठान आत्मा सर्वव्यापक है, उसी तरह आधेयरूप वृत्तिज्ञान भी सर्वव्यापक के साथ एक देश में विद्यमान है। इसीलिये समस्त सृष्टि ज्ञानी में विद्यमान है और उससे पृथक् नहीं। इसी से वह निश्चिंत (बेपरवाह) और आप्तकाम है, अर्थात् उसको समस्त पदार्थ प्राप्त हैं। ऐसे ज्ञानवान् को न किसी वस्तु की इच्छा है, न किसी से राग और न किसी से द्वेष। वह तो सबका अपना आप है।

(५) चौथे-पाँचवें व्याख्यान में बाबाजी महाराज ने वृत्तिज्ञान के दर्जे व स्थान दिखलाए हैं, अर्थात् जाग्रत्-अवस्था और स्वप्न-अवस्था इत्यादि। घनसुषुप्ति प्रज्ञानघन या ईश्वर के तुल्य है। इस दशा में ज्ञान समस्त गुणों से घनीभूत हुआ होता है। जब वृत्तिरूप ज्ञान का अवतरण (प्रादुर्भाव) होता है, तो स्वप्न-अवस्था में वह तैजस या हिरण्यगर्भ कहलाता है, और जाग्रत्-अवस्था में विश्व या वैश्वानर अर्थात् विराट् कहलाता है।

(६) बाबाजी महाराज ने सर्व-साधारण के समझने योग्य भाषा में साक्षी को इन स्थानों का पथिक वा यात्री वर्णन किया है, इससे उनका वास्तविक तात्पर्य यह है कि साक्षी, असंग आत्मा, अक्रिय, अविनाशी, प्रत्येक अवस्था में एक स्वरूप, निश्चेष्ट वा निश्चल रहता है। और, ये तीन अवस्थाएँ उसके सामने आती-जाती रहती हैं। अपनी-अपनी उपाधि व अवस्था में वे साक्षी को

संबंधित करके अपने-अपने विशेषणों से विशिष्ट करती हैं। इसलिये ख़्याल रखना चाहिए कि ये विशेषण-युक्त नाम, कर्म और संबंध विभिन्न अवस्थाओं और उपाधियों में आत्मा के नहीं हैं, आत्मा उनसे पृथक् अधिष्ठानरूप है। परंतु चूँकि अधिष्ठित वा आधेय-रूप पदार्थ यद्यपि मिथ्या और आत्मा से पृथक् है, तथापि प्रत्येक अवस्था में उसके साथ लगा हुआ मालूम होता है, और देखनेवाले को आधेय के विकार और गुण आत्मा के विकार और गुण प्रतीत होते हैं। और, सर्व-साधारण की बोलचाल में प्रायः ज्ञानी लोग भी आत्मा को उक्त विभिन्न अवस्थाओं में यात्री और उपाधियों वा अवस्थावाला वर्णन करते हैं। इसलिये विवेकी जनों को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए, जिससे भ्रांति न हो जाय।

(७) स्थान और अवस्थाएँ वेद में तीन ही वर्णन हुई हैं। और वस्तुतः हैं भी तीन ही, अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। ये तीनों आधेयरूप वा अधिष्ठित हैं, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है। चूँकि अवस्था (आधेय) अवस्थावाले (आधार) के साथ मिली हुई दृष्टिगोचर होती है, इसलिये जाग्रत् में आत्मा अर्थात् अधिष्ठान को विश्व कहते हैं और स्वप्न में तैजस और सुषुप्ति में प्राज्ञ। ये तीन नाम एक ही अधिष्ठान के हैं, जो आधेय की विभिन्न उपाधियों के कारण भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित हुए हैं। तीन अवस्थाओं की अपेक्षा से वह तीन अवस्थाओंवाला मालूम होता है। चूँकि तीन अवस्थाओं में एक ही आत्मा तीन विभिन्न अवस्थाओं-वाला वर्णन किया गया है, तो उस एक को, जो इन अवस्थाओं से पृथक् है, चौथा पुकारते हैं, और संस्कृत में उसे तुरीय कहते हैं। ध्यान रखना चाहिए कि तीन अवस्थाओं में यही आत्मा अवस्था-वाला कहलाता है, चौथी कोई अवस्था नहीं है, वरन् चौथा पद

निर्गुण ब्रह्म व शुद्ध आत्मा है। सर्व-साधारण की बातचीत में इस तुरीय अर्थात् चौथे को असंग आत्मा व अवस्थातीत वर्णन करने के स्थान में इस चौथे असंग आत्मा को भी तुरीयावस्था अर्थात् चतुर्थ पद वर्णन कर देते हैं। इसलिये विवेकी जनों को सावधान रहना चाहिए कि कोई भूल किसी प्रकार से उनके मार्ग में बाधक न होने पावे। तुरीयावस्था कोई नहीं है, वरन् असंग आत्मा जो अलग है, और तीन रूपवाला होकर दिखाई देता है, उसका अपना स्वरूप है, और तीनों से पृथक् होने के कारण चौथा कहलाता है। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

हरनारायण

(शिष्य बाबा नगीनासिंह साहिब)

रिसाला अजायबुल इल्म

अर्थात्

भगवत्-ज्ञान के विचित्र रहस्य

उपदेश पहला

(१) ऐ प्यारो ! मैं आप लोगों को धन्यवाद देता हूँ कि आप मेरे उपदेश सुनने के लिये एकत्रित हुए हैं। आप लोगों को इसलिये आमंत्रित किया गया है कि पहले आपको कर्मकांड-शास्त्र में जो कुछ सिखाया गया है, उससे आप लोगों को केवल परोक्ष (अप्रत्यक्ष) ईश्वर पर निश्चय प्राप्त हुआ है, अब मै आपको ईश्वर-परमात्मा से मिलाता हूँ और उसका साक्षात्कार कराता हूँ। जो कुछ आपने कर्मकांड-शास्त्र में सुना है, उसे प्रत्यक्ष कर दिखाता हूँ।

(२) कर्मकांड-शास्त्र में परोक्ष ईश्वर पर निश्चय करके आप सदैव उस परोक्ष परमात्मा की भक्ति और उपासना करते हैं। मैं चाहता हूँ, आपको इसी समय परमेश्वर के दरबार में उपस्थित करूँ, और आप वहाँ उपस्थित होकर उसकी उपासना करें, और आपको महानंद प्राप्त हो।

(३) कर्मकांड-शास्त्र में तुमने सुना है कि परमेश्वर सर्वत्र,

सर्वव्यापी और सर्वज्ञ है, और इस समय भी वह यहाँ विद्यमान और साक्षी है और तुमको देखता है, किंतु तुम उसको नहीं देखते हो। और, यह इस प्रकार का रहस्य है कि जैसे देवदत्त विष्णुदत्त की खोज में विष्णुदत्त से मिलना चाहता है, और विष्णुदत्त पास ही विद्यमान भी हो, किंतु वह विष्णुदत्त को जानता न हो कि यही विष्णुदत्त है, तो यद्यपि विष्णुदत्त उपस्थित और देवदत्त के सम्मुख है, तो भी देवदत्त उससे अप्रत्यक्ष और अज्ञान ही है। यदि कोई कृपालु मित्र देवदत्त को बतला दे कि यही विष्णुदत्त है, तो उसी समय उससे भेंट या दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। अतः ब्रह्मविद्या में यह मेरा पहला उपदेश इसी प्रकार का है। कान धरकर सुनो।

(४) देखो, ईश्वर तुम्हारे पास मौजूद है। तुमको हर समय देखता है, और इस समय भी तुम्हारे मस्तिष्क में विराजमान हो रहा है। और वह तुम्हारा ही ज्ञान है, किन्तु तुम उसको ईश्वर-भाव से नहीं जानते हो। इसमें कदापि संदेह न करो। यही भगवत्-ज्ञान ईश्वर-परमात्मा है।

(५) तुम्हारा ज्ञान तुम्हारे पास नित्य उपस्थित और साक्षी है, और तुमको भली भाँति जानता है, और तुम भी अपने ज्ञान से प्रत्येक वस्तु को जानते-समझते, संसार में व्यवहार करते और उसी ज्ञान-ज्योति से समस्त वस्तुओं को देखते हो। और फिर भी भगवत्-ज्ञान से प्रमाद कर रहे हो। और यदि किसी समय अपने ज्ञान की असलियत की ओर तुम ध्यान भी देते हो, तो

उसको केवल ज्ञान जानते हो, ईश्वर-परमात्मा नहीं जानते हो, जैसा कि देवदत्त विष्णुदत्त को केवल एक मनुष्य जानता है, विष्णुदत्त नहीं जानता, इसीलिये अपरिचित रहता है। वैसा ही तुम भी उसके परिचय से वंचित रहते हो।

(६) कर्मकांड-शास्त्र में तुमने सुना है कि ईश्वर-परमात्मा के बहुत-से नाम हैं, और ज्ञान भी उसका नाम है। क्योंकि वेद की श्रुति उसको "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", अर्थात् सत्, ज्ञान, अनत इन नामों से स्मरण करती है। किंतु कर्मकांड-शास्त्र में, तुम्हारे हितचिंतन की दृष्टि से, तुमको उस असली भगवत्-नाम की सूचना नहीं दी गई, ताकि उसके वियोग से आपको पीछे चलकर आनंद मिले, क्योंकि उस सच्चे भगवत्-नाम से तुम्हारी उसी समय मुलाक़ात हो जाती, और वह विशेष आनंद, जो वियोग के पश्चात् मिलाप में होता है, न होता। अब ब्रह्मविद्या में तुमको सूचना दी जाती है कि भगवत्-ज्ञान तुम्हारा ईश्वर-परमात्मा है।

(७) नामों की विभिन्नता के कारण नामी में विभिन्नता नहीं हो जाती। अतः विभिन्न नाम के कारण ईश्वर या परमात्मा भगवत्-ज्ञान से विभिन्न नहीं हो जाता। अब सावधान हो जाओ कि यही भगवत्-ज्ञान, जो इस समय आपके मस्तिष्क में प्रकाशमान है, तुम्हारा भगवान् या ईश्वर-परमात्मा है।

(८) यह मत ख़याल करो कि वह पूर्ण परमात्मा हमारे मस्तिष्क में किस प्रकार आ गया ? तुम्हारे मस्तिष्क में वह

परिमित नहीं हुआ और न प्रविष्ट ही हुआ हैं, वरन् यह अपरिमित और अनंत ज्ञानदेव वास्तव में अपने स्वरूप में स्थित उसी प्रकार मस्तिष्क में प्रकाशमान है, जिस प्रकार सूर्य दर्पण या कटोरे के जल में दिखाई देता है, और वह दर्पण या कटोरे के जल में परिच्छिन्न नहीं हो जाता।

(९) देखो, सूर्य, जो अति प्रतापवान् होते हुए पृथिवी से हज़ारों गुणा बड़ा है, छोटे-से कटोरे के जल में कब आबद्ध हो सकता या समा सकता है। परंतु क्या तमाशा है कि वह उसमें प्रतिबिम्बित या प्रकाशमान दिखाई देता है। इसी तरह भगवत्-ज्ञान भी अपरिच्छिन्न और अनंत होते हुए इस छोटे-से मस्तिष्क में कब समा सकता है, तो भी वह उसमें चमकता और दृश्यमान है।

(१०) कदाचित् तुम हमारे इस कथन को विश्वास योग्य न समझो। जैसे देवदत्त, जो विष्णुदत्त की खोज कर रहा है, अपने सदा के साथी विष्णुदत्त में उस कृपालु मित्र के वचन को (जो सूचना दे कि यही साथी आपका विष्णुदत्त है) संदिग्ध समझे, क्योंकि विष्णुदत्त को वह उस समय से अपने साथ पाता है, जब से उसकी खोज करनी उसने शुरू की, तो भी जब सोच-विचार के पश्चात् उसी पहचान और चिह्नों को, जो अपने इच्छित विष्णुदत्त में सुने हुए थे, देखता है, तब कृपालु मित्र के वचन को विश्वास योग्य समझकर फिर प्रसन्न होता और खोज समाप्त करता है। इसी तरह तुम्हारा ज्ञान जो जन्म

से तुम्हारे साथ है, उसे ईश्वर मानने में कदाचित् तुमको संदेह हो, इसलिये ईश्वर की पहचान और गुण जो कर्मकांड-शास्त्र में सुने गए हैं, उनकी इससे तुलना करनी चाहिए। यदि ईश्वरीय गुण उसमें विद्यमान हों, तो हमारे वचन पर, जो कि वेदानुकूल है, विश्वास करना चाहिए, अन्यथा नहीं।

(११) देखो, ईश्वर की महिमा कर्मकांड-शास्त्र में तुम लोगों को मालूम हो चुकी है कि वह नाम-रूप से रहित अर्थात् निर्विकार और निरवयव है, जिसका अर्थ यह है कि वह हस्त, पाद, रंग या रूप न रखता हो, और किसी बाह्य या अभ्यंतर इंद्रिय से जाना न जाय।

भला, क्या ज्ञान में कुछ रूप या रंग या हस्त-पाद हैं? या वह नेत्र अथवा अन्य किसी इंद्रिय से जाना जा सकता है? कदापि नहीं। तो भी वह प्रकाशमान या स्वयं ज्ञाता है, अर्थात् ज्ञान अपने स्वरूप से अपने आपको जानता है, इसलिये ज्ञान की असलियत नाम-रूप से रहित अर्थात् निर्विकार व निरवयव है।

(१२) कर्मकांड-शास्त्र में तुमने सुना है कि समस्त वस्तुएँ अपनी चेष्टा और गति में परमेश्वर की आज्ञा के अधीन हैं। अब देखो, समस्त कर्म भगवान् ज्ञानदेव की आज्ञा के अधीन व वशवर्ती हैं, क्योंकि समस्त कर्म, जो संसार में हो रहे हैं, दो प्रकार से रिक्त नहीं हैं। या मनुष्य के भीतर से अर्थात् मानुषी हैं या मनुष्य के बाहर से अर्थात् अमानुषी। जो कर्म मनुष्य के भीतर से हैं, वे सब दो प्रकार के हैं, या

मानसिक (संकल्प-जन्य) या स्वाभाविक । अतः मानसिक तो यों ही स्वतःसिद्ध हैं कि भगवत्-ज्ञान की आज्ञा के अधीन हैं, क्योंकि जब हमारा ज्ञान हमको बतलाता है कि यह वस्तु हमारे लिये लाभदायक है, तो हमारा संकल्प उसके लेने या प्राप्त करने का होता है, और संकल्प के पश्चात् प्रकृति, जो हमारे अंगों में स्थित है, गतिशील होती है, और हमारे अंग उसके अनुसार चेष्टा करते हैं, और उस वस्तु को, जो ज्ञान ने लाभदायक सिद्ध की थी, प्राप्त करते हैं। वैसा ही जब किसी वस्तु को हमारे लिये हमारा ज्ञान हानिकारक सिद्ध करता है, तो उसी समय हमारा संकल्प घृणा या उपरामता का उत्पन्न होता है, और उसके पश्चात् हमारी प्रकृति उसके अनुसार चेष्टा करती है, और अंग घृणा की चेष्टा के साथ गतिशील होते हैं। देखो, बकरी सिंह को देखते ही किस प्रकार भाग जाती है। इस कारण से मानुषी कर्म और अंग स्पष्टतया इसी भगवत्-ज्ञान के अधीन हैं, और वास्तव में वही कर्मों का नियन्ता वा शासक है।

(१३) मनुष्य के स्वाभाविक कर्म या मनुष्य से बाहर के कर्म में ज्ञान की गति पहलेपहल संकल्प में नहीं होती है, वरन् विना संकल्प का आश्रय लिए पंच प्राणों में होती है, और उसी के अनुसार कर्म होते हैं। इसलिये प्रत्येक गति या कर्म का दूरस्थ कारण भी यही भगवत्-ज्ञान ही है।

(१४) यह नहीं गुमान करना चाहिए कि मानुषी स्वाभाविक

कर्म में या मनुष्य से बाहर के (अमानुषी) कर्म में दूरस्थ कारण ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्वाभाविक कर्म मनुष्य या संसार में जो हो रहे हैं, एक नियम या विधान से बँधे हुए सिद्ध होते हैं। और, यह स्पष्ट है कि नियमबद्ध कर्मों का आरंभ-कारक बुद्धि या ज्ञान है। यदि ज्ञान या बुद्धि आरंभकारक न होते, तो वह कर्म भी नियमबद्ध न होते, वरन् व्यर्थ तुच्छ या पोच सिद्ध होते। चूँकि वे तुच्छ और व्यर्थ नहीं हैं, इसलिये उनका प्रकट होना ज्ञान या बुद्धि के कारण से है।

(१५) यह भी नहीं गुमान करना चाहिए कि मानसिक कर्म मानुषी ज्ञान से होते हैं, और स्वाभाविक कर्म किसी महान् ज्ञान से, जो मानुषी ज्ञान से भिन्न है, होते हैं। क्योंकि ब्रह्मविद्या में ज्ञान एक अकेला सिद्ध हुआ है, जिसकी संक्षिप्त युक्ति वा व्याख्या इसी उपदेश की दफ़ा ३१ व ३२ में लिखी है। परंतु भगवत्-ज्ञान का आविर्भाव हिरण्यगर्भ में है, और फिर हृदय में, फिर मस्तिष्क में और फिर भीतरी ज्ञानेंद्रियों में होता है। और इन अनेक आविर्भावों के कारण भगवत्-ज्ञान के भी बहु-संख्यक होने का भ्रम होता है।

(१६) हिरण्यगर्भ, हृदय, मस्तिष्क व ज्ञानेंद्रिय दर्पणों के समान हैं, जो क्रमशः एक दूसरे के बाद स्थित हैं, और उनमें वह अकेला भगवत्-ज्ञान उसी तरह प्रकट और प्रकाशित होता है, जिस तरह क्रम से स्थित दर्पणों में दीपक का प्रकाश बहुसंख्यक होता है। यह भगवत्-ज्ञान मानसिक कर्मों की प्रेरणा

मस्तिष्क द्वारा, स्वाभाविक मानुषी कर्मों की प्रेरणा अन्तःकरण द्वारा और मनुष्य से बाहर के कर्मों की प्रेरणा हिरण्यगर्भ द्वारा करता है। अतः समस्त कर्मों की प्रेरणा इस कारण स्वरूप अकेले भगवत्-ज्ञान से होती है, किंतु उन कर्मों में से कुछ का संपादन तो मनुष्य के मस्तिष्क व अन्तःकरण की उपाधि व प्रेरणा से होता है, और कुछ का हिरण्यगर्भ की उपाधि व प्रेरणा से होता है, इसलिये मनुष्य भगवत्-ज्ञान के बहुसंख्यक होने का भ्रम करता है।

(१७) जो भगवत्-ज्ञान हिरण्यगर्भ में प्रकाशित होकर संसार के समस्त कर्मों को गतिशील करता है, वही भगवत्-ज्ञान तुम्हारे अंतःकरण में विराजमान होता हुआ तुम्हारे स्वाभाविक कर्मों को गतिशील करता है। और वही तुम्हारे मस्तिष्क में इस समय विराजमान होता हुआ मानसिक कर्मों की प्रेरणा करता है। अतः इसी आम दरबार (सार्वभौम स्थिति) में भगवत्-ज्ञान के दर्शन का अवसर है। इस भगवत्-ज्ञान की प्रतिष्ठा, महिमा और वैभव को देखो। इससे इनकारी मत हो, क्योंकि वह (भगवत्-ज्ञान) आप लोगों के दर्शन देने के निमित्त आपके मस्तिष्क के झरोखे में विराजमान हो रहा है।

(१८) कर्मकांड शास्त्र में आपने सुना होगा कि ईश्वर सर्वज्ञ है। अब देखो, भगवत्-ज्ञान ही सर्वज्ञ है, क्योंकि जानना ज्ञान से संबंध रखता है, सिवा ज्ञान की सत्ता के जानना कठिन है। इसलिये कि ज्ञान में वस्तु के रूप का प्राप्त होना या विद्यमान

होना ही जानने का असली स्वरूप है। और यह बात (जानना) सिवा ज्ञान की सत्ता के हो नहीं सकती, अतः मालूम हुआ कि जानना वास्तव में भगवत्-ज्ञान की विभूति है।

(१९) ज्ञान की विचित्र विशेषता यह है कि अपने ज्ञातृत्व (जानकारी) को समय-समय पर प्रकट करता है, जैसा कि एक विद्वान् पुरुष समस्त बुद्धि-संबंधी बातों को जानता हुआ यद्यपि समस्त समस्याओं का विद्वान् होता है, तो भी जो समस्या उपस्थित होती है, उसी को स्मरण करता है। और, जब वह एक विषय का स्मरण करता है, तो शेष विषयों में वह अविद्वान् नहीं हो जाता। इसी तरह भगवत्-ज्ञान जब मनुष्य के मस्तिष्क में दरबार लगाता है, और समय-समय पर वस्तुओं को जतलाता है, तो इस रीति से वह अल्पज्ञ नहीं हो जाता। यदि वह अल्पज्ञ होता, तो देखने में अज्ञात पदार्थों को ज्ञात पदार्थों की तरतीब से वह किस प्रकार बतला सकता। अतः ज्ञात हुआ कि भगवत्-ज्ञान ही सर्वज्ञ है।

(२०) मनुष्य जो अपने ज्ञान में अल्पज्ञता का गुमान करता है, वह इस प्रकार की भूल वा चूक है, जैसा कि अध्यापक ज कब, ख, ग सिखाता हो, और विद्यार्थी यह ख़्याल करे कि अध्यापक क, ख, ग के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता।

(२१) कर्मकांड-शास्त्र में आपने सुना है कि परमात्मा समस्त वस्तुओं का स्रष्टा है। अब देखो, भगवत्-ज्ञान वास्तव में सबका स्रष्टा है। क्योंकि ब्रह्मविद्या में स्पष्ट सिद्ध हुआ है

कि भगवत्-ज्ञान प्रत्येक रूप और प्रत्येक वस्तु की असलियत पर प्रकाशमान हो सकता है। क्योंकि जब हम किसी वस्तु का ख़्याल करते हैं, तो वह वस्तु हमारे ज्ञान में विद्यमान और उत्पन्न हुई दिखाई देती है। और भगवत्-ज्ञान की यह विचित्र विशेषता किसी ख़ास एक आकार व रूप के लिये नहीं है, वरन् सब सामान्य रूप भी, जो संसार में हैं, हमारे ज्ञान में प्रतीत और कल्पित हो सकते हैं।

(२२) स्वप्नावस्था में ज्ञान की यह विचित्र विशेषता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है कि धरती व आकाश, लोक और परलोक अर्थात् समस्त संसार तत्क्षण हमारे ज्ञान में उपस्थित अर्थात् उत्पन्न हो जाता है, और वस्तुतः दिखाई देता है, तथा ज्ञान ही उसका वास्तव में स्रष्टा वा आदि कारण है।

(२३) देखो, भगवत्-ज्ञान में जो स्वप्नसंसार उत्पन्न होता है, बिना उपादान कारण वा साधनों के होता है, इसलिये भगवत्-ज्ञान सर्वशक्तिमान् और सर्वगुण-संपन्न स्रष्टा है।

(२४) निदान, उपर्युक्त कथन से सिद्ध है कि ज्ञान वास्तव में निराकार, निरवयव, सर्वशक्तिमान्, ईश्वर, सबका सृजनहार और सर्वज्ञ है। अतः उसके प्रभुत्व में इनकार करना सिवा मूर्खता के और क्या समझा जा सकता है। ब्रह्मविद्या के आचार्य ऐसे नास्तिकों के हाथ में इस प्रकार असमर्थ हैं, जिस प्रकार हम किसी बात को पशु के तईं समझाने में असमर्थ हों।

(२५) सर्व-साधारण लोग जो भगवत्-ज्ञान की ईश्वरता

से इनकार करते हैं, उसका पहला कारण यह है कि वे लोग ज्ञान को ईश्वर का गुण या विशेषण निश्चय करते हैं। और ब्रह्मविद्या में सिद्ध हुआ है कि ज्ञान गुण या विशेषण नहीं है, क्योंकि समस्त वस्तु गुण-विभाग की दृष्टि से या तो गुणी (आधार) है या गुण (आधेय)। जो वस्तु स्वतः स्थित हो, वह जौहर या आधार कहलाती है, और जो स्वतः स्थित न हो, किंतु दूसरे के आश्रित हो, वह अर्ज़ या आधेय कहलाती है। जैसे पट आधार है और उसकी सफ़ेदी आधेय। और यह स्पष्ट है कि आधार (गुणी) गुण या विशेषण का अधिष्ठान वा आश्रय होता है, किंतु गुण या विशेषण किसी का अधिष्ठान वा आश्रय नहीं हो सकता। और ज्ञान तो ज्ञानाकृतियों का अधिष्ठान वा आश्रय स्पष्ट दीखता है, और यह गुण या विशेषण के भाव का विरोधी है। अतः भगवत्-ज्ञान गुण या विशेषण नहीं। और यह वर्णन हो चुका है कि वस्तु या गुणी होगी या गुण। जब ज्ञान गुण नहीं, तो गुणी है, अतः सर्व-साधारण का निश्चय कि "ज्ञान ईश्वर का गुण है," अज्ञान के कारण से है। पस, ज्ञान स्वयं ईश्वर है और यही सत्य है।

(२६) मनुष्य ज्ञान को अपना गुण समझता है और इसी कारण ज्ञान को ईश्वर का गुण सिद्ध करता है, और यह उसका भ्रम है। क्योंकि ज्ञान वास्तव में मनुष्य का गुण नहीं है, वरन् मस्तिष्क में उसका प्रकट व भासमान होना इस प्रकार का है, जिस प्रकार वस्तुएँ दर्पण में प्रतिबिंबित और भासमान होती

हैं। अतः जैसा मूर्ख लोग प्रतिबिंब को दर्पण का गुण समझ लेते हैं, इसी प्रकार का भ्रम मनुष्य भगवत्-ज्ञान के पक्ष में भी कर लेते हैं।

(२७) इनकार का दूसरा कारण यह है कि सर्व-साधारण लोग अपने ज्ञान को उत्पत्ति और नाशवाला जानते हैं, और जो उत्पत्तिवाला तथा नाशवाला होता है, वह ईश्वरता के योग्य नहीं होता; और यह नहीं जानते कि उत्पन्न दर्पण में जब उत्पन्नकर्ता अर्थात् दर्पण बनानेवाले के मुख का प्रतिबिंब पड़ता है, तो दर्पण बनानेवाले का मुख उस आभास और आविर्भाव से नया पैदा हुआ नहीं हो सकता। उसी तरह दर्पण के टूट जाने से मुख नाशवान् नहीं हो सकता। अतः इसी तरह मस्तिष्क की उत्पत्ति में जो ज्ञान उसमें प्रकट हुआ है, वह नया पैदा हुआ नहीं, और मस्तिष्क के नाश से जो दिखाई नहीं देता, उससे वह नाशवान् नहीं।

(२८) देखो, ज्ञान का अभाव (लोप) और भाव (विकास) मस्तिष्क में प्रतिदिन होता है। क्योंकि गहरी नींद में, जिसको सुषुप्ति अवस्था भी कहते हैं, ज्ञान लुप्त हो जाता है, और जब जागृति होती है, फिर प्रकट हो जाता है। यदि वह सुषुप्ति अवस्था में नाशवान् होता और जाग्रत् में नया उत्पन्न होता, तो पहली जानी हुई वस्तुओं का वर्णन (वा स्मरण) उसके लिये असंभव हो जाता। इसलिये प्रत्यक्ष है कि ज्ञान घनसुषुप्ति की अवस्था में यद्यपि लुप्त हो जाता है, पर विनाश नहीं होता। इसी

तरह जागृति में जब प्रकट और प्रकाशमान होता है, तो नया उत्पन्न नहीं होता। और मृत्यु में भी यही दशा है। अतः शारीरिक मृत्यु से भगवत्-ज्ञान का विनाश संभव नहीं।

(२९) थोड़ी देर के लिये यदि मान भी लिया जाय कि मृत्यु में ज्ञान नष्ट हो जाता है, तो फिर परलोक में कर्मों का दुखः-सुख-रूपी फल कौन सिद्ध करेगा। और सर्व-साधारण लोग कर्मकांड-शास्त्र की दृष्टि से इस बात से इनकार नहीं कर सकते। अतः ज्ञान के नाश में सर्व-साधारण का निश्चय झूठा है!

(३०) जब मालूम हुआ कि मनुष्य का ज्ञान वास्तव में उत्पत्ति या नाशवाला नहीं, वरन् अविनाशी, अनादि, अनंत, बाहर-भीतर (प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष) और पुरातन है, अतः यही भगवत् ज्ञान मनुष्य का परमेश्वर या परमात्मा है, क्योंकि ईश्वर की ऐसी ही स्तुति और महिमा सुनने में आती है।

(३१) तीसरा कारण इनकार का यह है कि श्रुति भगवती से मालूम होता है कि भगवान् एक और अद्वैत है। और ज्ञान सर्व-साधारण जिज्ञासुओं को अनेक प्रतीत होता है, क्योंकि देवदत्त का ज्ञान विष्णुदत्त के ज्ञान से भिन्न दिखाई देता है। और यह भी मनुष्य की भूल और भ्रम है। क्योंकि ब्रह्मविद्या में ज्ञान एक और अद्वैत सिद्ध हुआ है, किंतु विविध शरीरों और मस्तिष्कों में इस प्रकार अनेक प्रतीत होता है, जिस प्रकार अकेला दीपक अनेक दर्पणों में अनेक दिखाई देता है।

(३२) ब्रह्मविद्या के आचार्य यह कहते हैं कि इस ज्ञानदेव

की विचित्र विशेषता यह है कि जब मनुष्य में ज्ञान-आकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, तो भिन्न-भिन्न आकृति की उपाधि के कारण ज्ञान भी अनेक दिखाई देता है। और उसकी यह विशेषता स्वप्नावस्था में प्रत्यक्ष प्रतीत होती है कि स्वप्न-काल में जब हमारे ज्ञान में देवदत्त और विष्णुदत्त की आकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, तो हमारा अकेला ज्ञान उनमें अनेक दिखाई देता है। और, ज्ञान का यह विचित्र रहस्य है, जिसमें बुद्धिमानों की बुद्धि दंग है।

(३३) परिणाम इस सारे का यह निकला कि कर्मकांड-शास्त्र में ईश्वर की जितनी भी स्तुति और महिमा सुनी जाती है, वह सब-की-सब विचार-दृष्टि से भगवत्-ज्ञान में सिद्ध होती और ठीक उतरती है, किंतु हमने शिक्षा-मात्र इतना ही संकेत करना पर्याप्त समझा है। जिसको अधिक अनुसंधान (खोज) करना हो, संस्कृत की बृहत् पुस्तकों द्वारा ढूँढ ले।

(३४) कर्मकांड-शास्त्र में जो गुण ईश्वर के सुने गए थे, उनसे परोक्ष ईश्वर का निश्चय हुआ था। इस शिक्षा से, जो ब्रह्मविद्या में दी जाती है, तुमको यह संकेत किया जाता है कि यही भगवत्-ज्ञान परब्रह्म परमेश्वर है। अतः यह शिक्षा तुमको अब ईश्वर से परिचित कराती है। अब तुम अपनी आँखों को बंद करके अपने ज्ञान को—जो तुम्हारा परमेश्वर परमात्मा है, और तुम्हारे घर में वरन् मस्तिष्क में विराजमान हो रहा है—देखो, और उसकी महिमा, तेज और सौंदर्य पर दृष्टि डालो, और चुपचाप आँखें बंद किए अपने अंतर्यामी परमेश्वर-स्वरूप भगवत्-

ज्ञान से प्रेम करो, और उसकी उपासना व बिनती करो कि वह तेजोमय भगवान्, जो हिरण्यगर्भ में राज्य कर रहा है, तुम दीन के घर में अतिथि-सा हुआ है। और इसी को संस्कृत में समाधि कहते हैं। और यह पूजा (उपासना) उच्च कोटि के ज्ञानियों या परमहंसों की है, और तुम भी उनमें से हो जाओ।

(३५) जब तुम इस समाधि से निकलो, और संसार के कार्य करो, तो देखो कि भगवत्-ज्ञान के प्रकाश बिना तुम कुछ नहीं कर सकते। और जो कुछ तुम करते हो, तुम्हारा ज्ञान उसको जानता है। अतः शोक है कि अपने ईश्वर के देखते हुए तुम किसी बुरे कर्म के कर्त्ता होते हो। इसलिये डरो, और भय करो। और संसार के कर्म में यह डर और भय भी एक प्रकार से समाधि तथा ईश्वर-स्मृति है। अब तुम ऐसे हो गए हो, जैसे कोई राजा के साथ रहता है। और यह स्पष्ट है कि राजा का साथी घृणित वा पाप कर्मों का कर्त्ता नहीं होता। और तुम भी निर्दोष हो।

अब मैं पहले उपदेश को समाप्त करता हूँ, और दूसरा उपदेश आरंभ करता हूँ।

श्रीभगवत्सच्चिदानंद परमात्मने नमः।

उपदेश दूसरा

(१) ऐ प्यारो ! पहले उपदेश में तुमको जतलाया गया है कि भगवत्-ज्ञान ही ईश्वर परमात्मा है। उसी से प्यार करो और उसी से सहायता माँगो। और उसी उपदेश में सर्व-साधारण के समझने योग्य युक्तियाँ भी लिखी गई हैं। इस दूसरे उपदेश में सूक्ष्म युक्तियों से उसी बात को सिद्ध करना चाहता हूँ, जिससे विद्वानों को भी संदेह न रहे, और साथ इसके वह रीति जिस तरह ऋषि-मुनियों ने वेद से इसको निश्चय किया है, उसका भी संकेत करूँगा। कान धरकर सुनो।

(२) जान लो कि शब्द ईश्वर-परमात्मा से तात्पर्य वास्तव में संसार का आदि कारण है। क्योंकि वेद की श्रुति कहती है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मे ति।

(तैत्तिरीय उप० भृगुवल्ली अनु० १)

"जिसमें यह संसार उत्पन्न होता है, और जिसमें उत्पन्न होने के पश्चात् स्थित रहता है, और अंत में जिसमें यह लीन होता है, वही ईश्वर-परमात्मा है।" अब हमको यह ढूँढ़ना चाहिए कि वह कौन वस्तु है, जिसमें यह समस्त संसार उत्पन्न

होता है, और उत्पन्न होने के बाद उसी में स्थित रहता है, और अंत में उसी में विलीन होता है।

(३) स्पष्ट है कि संसार में प्रत्येक वस्तु हम भिन्न-भिन्न देखते हैं, और ये सब संसार के अंतर्गत हैं। ऐसी कोई वस्तु देखने में नहीं आती, जिसमें यह समग्र संसार उत्पन्न होता है। अतः हमको फिर वेद में दृष्टि करनी चाहिए कि आया किस वस्तु पर वेद ने परमेश्वर की सत्यता का संकेत किया है। और फिर उसमें सोचना चाहिए कि आया उक्त श्रुति के अनुसार परिभाषा सच्ची उतरती है या नहीं।

(४) दृष्टि करने से हमको प्रतीत होता है कि वह भगवत्-ज्ञान है, क्योंकि दूसरी श्रुति यह कहती है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै० २, १, १)

वह सत्य है और ज्ञान है और अनादि-अनंत है। अतः ज्ञात हुआ कि हमारा ध्येय अर्थात् संसार का आदि कारण भगवत्-ज्ञान है। क्योंकि उक्त श्रुति में ईश्वर-परमात्मा का स्वरूप ही ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करके वर्णन किया गया है।

(५) अब परमात्मा के जिज्ञासु को उस श्रुति के आज्ञानुसार भगवत्-ज्ञान की ओर ध्यान करना चाहिए। क्योंकि ज्ञान की सत्यता हममें विना कहे-सुने अर्थात् स्वतः विद्यमान और प्राप्त है। कोई व्यक्ति अपने ज्ञान से इनकार नहीं कर सकता, बल्कि भगवत्-ज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करने में हमको युक्तियों की किंचित् आवश्यकता नहीं। हममें एक वस्तु

स्वतः प्राप्त है, जिससे हम समझते और बूझते हैं। और मृतक में वह नहीं होती, इसी कारण मृतक या लोथ को जलाया या पृथिवी में गाड़ दिया जाता है।

(६) ज्ञान का स्वरूप वह ज्योति है, जिससे मनुष्य देखता और जानता है। और दूसरी श्रुति में इसी ज्ञान को ईश्वर परमात्मा पढ़ा गया है। अतः भगवत्-ज्ञान में हमको विचार करना चाहिए कि वह जगत् का आदि कारण है या नहीं। और यदि विचार करने से भगवत्-ज्ञान ही जगत् का आदि कारण सिद्ध हो, तो इसी तत्त्व को सत्य निश्चय करना चाहिए। इस कथन के अनुसार कि क्रिया के अनुमान से किसी काल्पनिक घटना पर यह नहीं कह उठना चाहिए कि भय का स्थान है। अर्थात् इस सिद्धान्त पर कि भगवत्-ज्ञान ही ईश्वर परमात्मा है, हमें सोच-विचारकर निश्चय करना चाहिये, और मूर्खों की तरह किसी क्रिया को देखकर मानसिक कल्पनाओं से उसे भय का स्थान नहीं बनाना चाहिए।

(७) आरंभ में ऋषि-मुनियों ने भगवत्-ज्ञान को संसार का आदि कारण निश्चय किया है, इसका ब्योरेवार अनुवाद इन थोड़े-से पृष्ठों में कठिन है, किंतु उसके सिद्धांत को जिज्ञासुओं के लिये संक्षेप में नीचे उद्धृत करता हूँ।

(८) जब हम किसी आकार की कल्पना करते हैं, तो हम उस वस्तु के आकार को अपने ज्ञान में उपस्थित व प्राप्त देखते हैं। और जब तक उसकी कल्पना बनी रहे, वह कल्पित आकृति

हमारे ज्ञान में स्थिर रहती है। और जब हम उस कल्पना को बदलते हैं, तो वह पहली प्राप्त आकृति हमारे ज्ञान में लुप्त और विनाश हो जाती है। यह योग्यता किसी आकृति विशेष के लिये विशिष्ट नहीं है, वरन् प्रत्येक आकृति इन्द्रिय-गम्य या बुद्धि-गम्य जो कुछ कि संसार में विद्यमान है, हमारे ज्ञान में प्रकट वा विद्यमान होती हैं। यहाँ तक कि जो आकृति बाह्य जगत् में देखी जाती है, यदि उसमें सम्मिश्रण या परिवर्तन (तरकीब या तफ़सील) करना चाहते हैं, तो इस रीति से एक ऐसी नवीन आकृति प्राप्त होती है, जो जगत् में पहले विद्यमान न हो। जैसे कि बाह्य जगत् में हमने कभी इस प्रकार की आकृति नहीं देखी कि मनुष्य का शरीर हो और मस्तक हस्ती का हो, किंतु जब हम मनुष्य-शरीर की कल्पना को हस्ती के मस्तक से कल्पना करते हैं, तो इस रीति से नवीन आविष्कार रूप गणेश की आकृति अपने ज्ञान में पाते हैं। अतः ज्ञात हुआ कि भगवत्-ज्ञान प्रत्येक आकृति का आदि कारण है।

(९) ज्ञान की असलियत वास्तव में समस्त रूपों का पुंज-स्वरूप है, और उपर्युक्त दफ़ा (पैरा) में ज्ञान समस्त रूप-समूह का आदि कारण सिद्ध हुआ है, अतः वास्तव में ज्ञान समस्त संसार का आदि मूल है। और यही वस्तुतः सत् है। जिज्ञासु को कदाचित् इस जगह यह आपत्ति हो कि ज्ञानाकृतियाँ बाह्य आकृतियों से भिन्न हैं, क्योंकि ज्ञानाकृतियाँ ज्ञानाधीन हैं, और बाह्य आकृतियाँ ज्ञान के अधीन नहीं, वरन् जब किसी

वस्तु की हम कल्पना करते हैं, तो उस वस्तु की ज्ञानाकृति तत्काल प्राप्त होती है, और ज्ञान के परिवर्तन से आकृति का भी परिवर्तन होता है, और यह दशा बाह्य आकृति की दशा से उलटी है, क्योंकि जब ज्ञान बाह्य आकृति से संबंधित होता है, तो वह आकृति ज्ञान में तो आ जाती है, किंतु जब ज्ञान उससे संबंधित नहीं होता है, तो बाह्य आकृति नष्ट वा दूर नहीं होती। इस कारण बाह्य आकृति ज्ञानाधीन नहीं। इसलिये ज्ञान ज्ञानाकृतियों का आदि मूल तो है, बाह्य (जगत् की) आकृतियों का आदि मूल नहीं। और जगत् का तथ्य वा सार बाह्य आकृतियों का पुंज रूप है, उसका आदि कारण ज्ञान की सत्ता से कोई भिन्न वस्तु या ईश्वर है। पर यह आपत्ति भी स्पष्ट मिथ्या है, क्योंकि यह भेद-बुद्धि ज्ञान के उन विचित्र रहस्यों के कारण से है जिनको हम स्वप्न-संसार में स्पष्ट देखते हैं।

(१०) स्वप्न-अवस्था को हम स्वप्न-संसार नाम देते हैं। स्वप्नावस्था में जब स्वप्न-संसार उत्पन्न होता है, तो यही ज्ञान स्वप्न-संसार का आदि कारण रूप होकर स्वप्न के मनुष्य की कल्पित आकृति में परिच्छिन्न होता है, और उसी तरह उन ज्ञानाकृतियों से संबंधित होता है, जो स्वप्न-जगत् में उससे उत्पन्न होती हैं। और वे स्वप्नाकृतियाँ स्वप्न-मनुष्य के ज्ञान के अधीन नहीं होती हैं। इसी तरह ये बाह्य आकृतियाँ ज्ञान-स्वरूप में तो प्रकट वा विद्यमान हैं, पर बाह्य जगत् के मानुषी या परिच्छिन्न ज्ञान के अधीन नहीं हैं।

(११) मनुष्य पर यह स्पष्ट सिद्ध है कि स्वप्न-संसार केवल ज्ञानाकृतियाँ हैं, किंतु स्वप्न-काल में जब स्वप्न-संसार उत्पन्न होता है, तो सुप्त मनुष्य की स्वप्नाकृति भी तत्काल प्राप्त व उत्पन्न होती है। और ज्ञान को सुप्त मनुष्य के स्वप्न-शरीर की उपाधि से वही संबंध प्राप्त होता है, जैसा कि अब बाह्य (जाग्रत् अवस्था की) आकृति के साथ है। और ज्ञान की उपाधि की दृष्टि से स्वप्न-शरीर और स्वप्न-जगत् में बाहर-भीतर का भेद उत्पन्न होता है।

(१२) भगवत्-ज्ञान की जिस विचित्र शक्ति के कारण स्वप्न-संसार की ज्ञानाकृतियों में भीतर-बाहर का भेद प्राप्त होता है, उसी विचित्र शक्ति के कारण जाग्रत् संसार की ज्ञानाकृतियों में भीतर-बाहर का भेद प्राप्त है। वास्तव में जगत् का तथ्य या सार समष्टि रूप से ज्ञानाकृतियाँ हैं। किंतु अपरिच्छिन्न व परिच्छिन्न ज्ञान की अवस्थाओं और परस्पर अंतर के विचार से बाह्य और अभ्यंतर आकृतियों का भेद उत्पन्न होता है, क्योंकि जिस अपरिच्छिन्न ज्ञान में बाह्य संसार विद्यमान है, उसी अपरिच्छिन्न ज्ञान में बाह्य मानवाकृति भी विद्यमान है, और वही अपरिच्छिन्न ज्ञान इस मानवी आकृति में उसी तरह परिच्छिन्न वा उपाधिमान् है, जिस तरह स्वप्नावस्था में स्वप्न-जगत् के प्रकट होने के पश्चात् स्वप्नाकृति रूप मनुष्य में परिच्छिन्न और उपाधिमान् होता है। अतः ज्ञात हुआ कि वास्तव में संसार का तथ्य वा सार ज्ञानाकृतियाँ हैं, और यही अपरिच्छिन्न ज्ञान संसार

का आदि कारण है। बाह्याभ्यंतर का अंतर ज्ञान की विचित्र शक्ति के कारण है, जिसको हमने स्वप्न-संसार में प्रत्यक्ष देखा है।

(१३) स्वप्नावस्था में जब हम किसी वस्तु की कल्पना करते हैं, तो उस वस्तु की आकृति ज्ञान में आ प्राप्त होती है, किंतु उस आकृति की स्थिति स्वप्न-संसार की आकृतियों की स्थिति से विलक्षण होती है। क्योंकि स्वप्नमयी मनुष्य की कल्पित आकृति ज्ञानाधीन प्रतीत होती है, और स्वप्नाकृतियाँ यद्यपि वस्तुतः ज्ञानधीन हैं, तो भी ज्ञानाधीन प्रतीत नहीं होतीं। वही संबंध अब जागृति में बाह्य ससार तथा बाह्य मनुष्य के परिच्छिन्न ज्ञान के विषय में लागू है, और यह भेद वास्तव में त्याज्य है, अभीष्ट नहीं, और ये विचित्रताएँ भगवत्-ज्ञान-स्वरूप परमात्मदेव के विचित्र रहस्यों के कारण से हैं, जिसमें बुद्धि विस्मित (दंग) है।

(१४) जब मालूम हुआ कि जगत् का तथ्य समष्टि रूप से केवल ज्ञानाकृतियाँ है, और उस जगत् का आदि कारण यही भगवत्-ज्ञान है, जो अपरिच्छिन्न दशा से मनुष्य-रूप में परिच्छिन्न हुआ है। और यह सिद्ध हो चुका है कि सत्-स्वरूप संसार का आदि कारण है, अतः ज्ञात हुआ कि सत् वास्तव में यही भगवत्-ज्ञान है।

(१५) ब्रह्मविद्या के आचार्य यह सिद्ध करते हैं कि भगवत्-ज्ञान में शक्तियाँ हैं। एक आवरण-शक्ति (आच्छादन करनेवाली) है और दूसरी निरावरण (प्रत्यक्ष करनेवाली)। भगवत्-ज्ञान

की आवरण-शक्ति सुषुप्ति अवस्था में स्पष्ट दीखती है। इस शक्ति में समस्त आकृतियाँ भीतर में होती हैं। और, ज्ञान की निरावरण-शक्ति का अनुभव स्वप्न व जाग्रत् अवस्था में स्पष्ट होता है, और इस शक्ति में समस्त आकृतियाँ प्रत्यक्ष प्रतीत होती हैं। और फिर यह निरावरण-शक्ति भी दो प्रकार की है— एक कल्पना-शक्ति और दूसरी विक्षेप-शक्ति। कल्पना-शक्ति वह है, जिसमें आकृतियाँ प्रकट होती हैं, और ज्ञानाधीन दिखाई देती हैं, पर उनके गुण और प्रभाव का होना जरूरी नहीं होता। विक्षेप-शक्ति वह है, जिससे इन प्रत्यक्ष वा कल्पित आकृतियों में अस्तित्व का आविर्भाव होता है, और आकृतियाँ ज्ञानाधीन प्रतीत नहीं होतीं। और परस्पर क्रिया व प्रतिक्रिया तथा ऊँच-नीच इनमें स्वतः प्राप्त होता है।

(१६) जब हम किसी वस्तु की कल्पना करते हैं, तो भगवत्-ज्ञान की कल्पना-शक्ति क्रियावान् होती है, और कल्पित वस्तु की आकृति ज्ञान में विद्यमान होती है। किंतु कल्पना-काल में विक्षेप-शक्ति स्थिर या निष्क्रिय रहती है। इसलिये वह ज्ञानाकृति उस परिपूर्णता के साथ दिखाई नहीं देती कि बाहर में वह विद्यमान कल्पित की जाय। स्वप्नावस्था में पहले कल्पना-शक्ति क्रियावान् होती है, और उसमें संसाराकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, फिर उनको विक्षेप-शक्ति पूर्ण करती है। उनमें बाह्य अस्तित्व का प्रादुर्भाव होता है, अतः स्वप्न-जगत् बाह्य जगत् की भाँति प्रत्यक्ष अस्तित्व का व्यवहार करता है। और, कल्पित जगत् में बाह्य

अस्तित्व का व्यवहार नहीं होता, इसलिये मानसिक आकृतियों का बाह्याकृतियों से अंतर का भ्रम होता है। वास्तव में भीतर (मानसिक वा कल्पित) और बाहर (शारीरिक) की आकृतियाँ अकेली ज्ञानाकृतियाँ हैं।

(१७) अनादिकाल में अपरिच्छिन्न ज्ञान की कल्पना-शक्ति जब प्रकाशमान हुई, तो उस प्रकाश में समस्त प्रत्यक्ष जगत् की सत्ता प्रतीत और प्रकट हुई, जैसा कि कल्पना-काल में मनुष्य के विचारों में आकृतियाँ कल्पित होती हैं। उसके बाद विक्षेप-शक्ति ने उसे अस्तित्व प्रदान किया, जिस प्रकार स्वप्न में वह करती है। और, वही अपरिच्छिन्न ज्ञान मनुष्य-रूप में परिच्छिन्न हुआ अपने विचित्र गुणों को स्वप्न में प्रकट करता अपनी ईश्वरता का स्पष्टीकरण करता है।

(१८) जब नियत काल पर आवरण-शक्ति प्रकाशमान होगी, तो समस्त बाह्याकृतियाँ नाशवान् व लुप्त हो जायँगी। और, यही महाप्रलय का तथ्य है। अतः इस शक्ति में समस्त बाह्य-जगत् की आकृतियों की तुलना वही होगी, जैसी कि स्वप्न-जगत् की अब सुषुप्ति अवस्था में प्रत्यक्ष अनुभव होती है।

(१९) निदान, मानवी आकृति में यह परिच्छिन्न ज्ञान वही कमाल (परिपूर्णताएँ) और शक्तियाँ रखता है, जो उसको उत्पत्ति से पूर्व उपाधि-रहित अवस्था में प्राप्त थीं, और उसका अनुभव या प्रकाश स्वप्नावस्था में स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। इस कारण आपका ज्ञान वही अपरिच्छिन्न ज्ञान है, और यही ईश्वर-परमात्मा है।

(२०) यद्यपि मनुष्य का ज्ञान ईश्वरत्व की वही शक्तियाँ और कमाल (परिपूर्णताएँ) रखता है, किंतु उसकी शक्तियाँ व कमाल मानवीय संकल्प के अधीन नहीं। जब मानवीय संकल्प के अनुसार उसके कमाल और शक्तियाँ प्रकट नहीं होतीं, तो मनुष्य अपने ज्ञान को दोष-पूर्ण और अपूर्ण भ्रम करता है। और, यह चूक मनुष्य की उसी प्रकार की है, जैसा कि कोई मनुष्य किसी पूर्ण में कमालों के प्रकाश की आशा करे, और वह (पूर्ण) उस पर कुछ ध्यान न करे, और मनुष्य उसको दूषित विचार करे।

(२१) इस स्थान में जिज्ञासु को यह एक आपत्ति है कि वेदों के देखने से यह पता चलता है कि परब्रह्म परमात्मा एकमेवाद्वितीयं है, और ज्ञान एक नहीं है, क्योंकि घट का ज्ञान पट के ज्ञान से भिन्न है, और शब्द का ज्ञान स्वाद के ज्ञान से भिन्न है। अतः ज्ञात हुआ कि ज्ञान ठीक ईश्वर का स्वरूप नहीं है। किंतु उसकी यह आपत्ति भी अज्ञान के कारण है।

(२२) भगवत्-ज्ञान ब्रह्मविद्या में एकमेवाद्वितीयं सिद्ध हुआ है, क्योंकि यह घट है और यह पट, इस प्रकार के कथन के निश्चय में जानकारियाँ अनेक हैं और ज्ञान एक। अर्थात् घट और पट बहुसंख्यक अथवा भिन्न-भिन्न हैं, उनका ज्ञान बहुसंख्यक नहीं है, तो भी बहुसंख्यक जानकारी की संख्या और संबंध की दृष्टि से अकेला ज्ञान बहुसंख्यक प्रतीत होता है। वास्तव में वही ज्ञान जब घट से संबंध पाता है, तो घट की उपाधि (विशेषण) के विचार से उसी ज्ञान का नाम घट-ज्ञान

होता है, और जब वही ज्ञान पट से संबंध पाता है, तो पट की उपाधि के विचार से पट-ज्ञान बोला जाता है। वास्तव में पट और घट अनेक हैं, जिनसे ज्ञान संबंधित वा विशिष्ट हुआ है। ज्ञान उनका वस्तुतः एक अकेला है।

(२३) यह भी ख़्याल नहीं करना चाहिए कि रंग का ज्ञान शब्द-ज्ञान से भिन्न है, क्योंकि शब्द-ज्ञान से रंग-ज्ञान की भिन्नता देखने में इस कारण मालूम होती है कि रंगों की प्रतीति चक्षु-इन्द्रिय द्वारा होती है, और शब्द का ज्ञान श्रोत्रेंद्रिय द्वारा होता है। यदि ज्ञान एक होता, तो वही ज्ञान जो चक्षु-इन्द्रिय के द्वारा रंग से संबंधित हो जाता है, शब्द से भी संबंधित हो जाता। पर यह वार्ता अनुभव और व्यवहार के विरुद्ध है, क्योंकि चक्षु-इंद्रिय-ज्ञान श्रोत्र-इन्द्रिय-ज्ञान से भिन्न है। अतः ज्ञान अनेक है। इस आपत्ति का उत्तर यह है कि जिस प्रकार उक्त दफ़ा (पैरा) में जानकारियाँ बहुसंख्यक हैं, और ज्ञान एक है, उसी तरह इस स्थान पर ज्ञान के प्रकट होने के द्वार अनेक हैं, ज्ञान अनेक नहीं। वरन् जिस-जिस द्वार से वही अकेला ज्ञान प्रकट होकर उन्हीं-उन्हीं द्वारों की जानकारी विशेष से संबंधित होता है, वही-वही जानकारियाँ उसे प्रत्यक्ष होती हैं। अतः रंगों की विशेष जानकारी चक्षु-इन्द्रिय या नेत्र-द्वार के कारण है, और वैसे ही शब्द की जानकारी श्रोत्रेंद्रिय या कर्ण-द्वार के कारण है। और, ज्ञान जो इन्द्रिय-ज्ञान में प्रकट है, वास्तव में एक है। प्रकट होने के स्थानों की अनेकता

के कारण वह भी अनेक माल्म होता है, जैसे अकेला दीपक अनेक दर्पणों में अनेक प्रतीत होता है।

(२४) चक्ष-इन्द्रिय का यह गुण है कि रूप और रंग उसमें प्रतिबिंबित होते हैं, शब्द आदि प्रतिबिंबित नहीं होते। वैसे ही श्रोत्रेंद्रिय का यह गुण है कि शब्द उसमें प्रतिबिंबित होते हैं, रूप और रंग इत्यादि उसमें मुद्रित नहीं होते। और, भगवत्-ज्ञान प्रत्येक इन्द्रिय में प्रतिबिंबित और प्रकाशमान है। अतः चक्षु-इन्द्रिय में रंग और रूप दोनों प्रकाशित हैं, और प्रकाशक उनका एक है। और, उन दोनों प्रकाशित (रंग और रूप) में प्रकाशक एक होने के कारण उनकी परस्पर एकता वास्तव में होती है। और, ज्ञान उक्त रंग तथा रूप को प्रकाशता है। जैसे दर्पण में रूप और रंग भी प्रतिबिंबित हैं और सूर्य का प्रकाश भी उसमें प्रतिबिंबित होता है। अतः दर्पण में प्रतिबिंबित रंग और रूप दोनों उसी दर्पण में प्रतिबिंबित प्रकाश के द्वारा प्रकाशित व प्रदर्शित होते हैं। यही कारण है कि अंधकार में दर्पण में प्रतिबिंब प्रकाशित व प्रदर्शित नहीं होता। वैसे ही चक्षु-इंद्रिय में प्रतिबिंबित रूप और रंग उस समय प्रकाशित व प्रदर्शित होते हैं, जब वे तीनों (नेत्र-इन्द्रिय, रूप और रंग) ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। चूँकि शब्द उस नेत्र-इन्द्रिय में नहीं आते, चक्षु-इन्द्रिय में प्रकाशित ज्ञान द्वारा प्रदर्शित भी नहीं होते। यदि ईश्वर द्वारा यह नियत किया जाय कि शब्द भी चक्षु-इन्द्रिय में प्रतिबिंबित हो जायँ, तो शब्दों का

चक्षु-इन्द्रिय में ज्ञान द्वारा प्रकाशन व प्रदर्शन अवश्य हो जायगा। अतः ज्ञात हुआ कि रूप रंग की जानकारी विशेष चक्षु-इन्द्रिय के कारण है, ज्ञान के कारण नहीं। ज्ञान तो प्रत्येक पदार्थ का प्रकाशक व साक्षी है, क्योंकि वही चक्षु-इन्द्रिय में परिच्छिन्न वा उपहित हुआ चक्षु-इन्द्रिय में प्रतिबिंबित पदार्थों को प्रकाशता है, और वही श्रोत्रेंद्रिय में परिच्छिन्न वा उपहित हुआ श्रोत्रेंद्रिय में प्रतिबिंबित पदार्थों को प्रकाशता है। अतः रंगों का ज्ञान शब्द-ज्ञान से वास्तव में भिन्न नहीं, वरन् उनके प्रकट होने के स्थान अर्थात् चक्षु-इन्द्रिय और श्रोत्रेंद्रिय भिन्न-भिन्न हैं। और यही अभीष्ट था।

(२५) स्वप्नावस्था में यह स्वतःसिद्ध हो जाता है कि एक ही ज्ञान में प्रत्येक इन्द्रिय के विषय प्रकाशित होते हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ और उनके विषय एक ही साथ उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं। चूँकि इन्द्रियों और उनके विषयों का प्रकाशन व उत्पत्ति एक क्षण में एक ही साथ होते हैं, और इन्द्रियाँ अपने विषयों के जानने का साधन नहीं होतीं, कारण यह कि साधन (करण) को अपनी क्रिया से प्रथम होना आवश्यक है, और स्वप्नावस्था में ज्ञान से प्रथम इन्द्रियों का होना सिद्ध नहीं होता, अतः ज्ञात हुआ कि स्वप्न-संसार का अनुभव इन्द्रियों द्वारा नहीं होता, किंतु इन्द्रियों के कारण से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वप्नावस्था में भी जानने का साधन इन्द्रियाँ हैं। और, यह सब भगवत्-ज्ञान के विचित्र रहस्यों के कारण से है।

(२६) ब्रह्मविद्या के आचार्य यह कहते हैं कि स्वप्न-संसार विचार-दृष्टि से भगवत्-ज्ञान में इन्द्रियों की सहायता के विना प्रत्यक्ष दीखता है। क्योंकि इन्द्रियाँ या करण यदि पहले उत्पन्न हों, और फिर विषयों के सम्मुख हों, तो जानने का उपाय व साधन होती हैं। चूँकि स्वप्न-संसार का एक ही क्षण में उत्पन्न होना और जानना स्वतःसिद्ध है। वे इन्द्रियाँ वास्तव में जानने का करण वा साधन नहीं होतीं, तो भी इन्द्रियों व करण का भ्रम स्वप्नावस्था में दिखाई देता है। और, जिस तरह इंद्रियों व करण का भ्रम दिखाई देता है, उसी तरह साधन द्वारा जानने का भ्रम भी गुमान होता है। पर विचार की दृष्टि से देखा जाय, तो इन्द्रियाँ, जानने का साधन और जानना तीनों एक साथ ही भगवत्-ज्ञान में प्रकाशित होते हैं। इसी कारण से वेद की श्रुतियाँ स्वप्नावस्था में आत्मा के स्वयं प्रकाश होने को स्पष्ट वर्णन करती हैं, और कहती हैं कि वह इन्द्रियों या साधनों के अधीन नहीं।

(२७) जिस तरह भगवत्-ज्ञान को स्वप्नावस्था में स्वप्न-संसार के जानने में इन्द्रियों व साधनों की जरूरत नहीं, उसी तरह जाग्रत्-अवस्था में भी उसे इन्द्रियों और साधनों की जरूरत नहीं है। परंतु जिस तरह स्वप्नावस्था में इन्द्रियों के भ्रम के कारण उसमें इन्द्रियों की अधीनता का गुमान होता है, उसी तरह जाग्रत्-अवस्था में इन्द्रियों के भ्रम के कारण उसमें इन्द्रियों की अधीनता का गुमान होता है। और, इस भ्रमरूपी निश्चय

का कारण यह है कि जाग्रत् प्रपंच में पहले इन्द्रियों की उत्पत्ति और फिर विषयों की सम्मुखता और तत्पश्चात् उनके जानने का भ्रम होता है, इसलिये मनुष्य का भ्रम दृढ़ हो जाता है कि भगवत्-ज्ञान संसार के जानने में इन्द्रियों के अधीन है। और यही भगवत्-ज्ञान के विचित्र रहस्य हैं।

(२८) जिस तरह इन्द्रियों की उपस्थिति के कारण भगवत्-ज्ञान में इन्द्रियों वा साधनों की अधीनता का भ्रम होता है, उसी तरह ज्ञान-स्वरूप की सत्ता में इन्द्रियों की उपस्थिति के कारण अनेकता प्रतीत होती है। परन्तु विचार की दृष्टि से भगवत्-ज्ञान न तो इंद्रियों के अधीन है और न अनेक है। ज्ञान के जिस विचित्र रहस्य से उसमें इन्द्रियों की अधीनता का भ्रम होता है, उसी विचित्र रहस्य से उसमें अनेकता का भी भ्रम होता है।

(२९) यह भी नहीं गुमान करना चाहिए कि देवदत्त का ज्ञान विष्णुदत्त के ज्ञान से भिन्न है, क्योंकि यदि देवदत्त और विष्णुदत्त का ज्ञान एक होता, तो देवदत्त की जानकारियाँ विष्णुदत्त की जानकारियाँ हो जातीं। यद्यपि जिन पदार्थों का ज्ञाता देवदत्त है, विष्णुदत्त उनसे अनभिज्ञ हो सकता है। देवदत्त की जानकारियाँ जो विष्णुदत्त की अनजानकारियाँ हैं, उसका कारण यह है कि भगवत्-ज्ञान का धर्म केवल प्रकाश करना है, ग्रहण करना नहीं; और अन्तःकरण का स्वभाव ग्रहण करना है, प्रकाश करना नहीं। अतः जिस अन्तःकरण में ज्ञान परिच्छिन्न हुआ प्रकाश करता है, वही अन्तःकरण उसकी

क्रिया को ग्रहण करता है। इसलिये देवदत्त के अन्तःकरण में आई हुई जानकारियाँ विष्णुदत्त के अन्तःकरण में नहीं आई हुई होती हैं, और विष्णुदत्त के लिये अज्ञात रहती हैं।

(३०) ब्रह्मविद्या के आचार्य यह कहते हैं कि ग्रहण की असलियत प्रकाश की असलियत से भिन्न है, क्योंकि पदार्थों का अन्तःकरण में अंकित या प्रतिबिंबित होना ग्रहण की असलियत है, और चमकाना व प्रकट करना प्रकाश की असलियत है। उक्त प्रकाशन व ग्रहण की क्रिया का एक साथ होना जानकारी की असलियत है। अतः ग्रहण अन्तःकरण के कारण और प्रकाशन ज्ञान के कारण है।

(३१) कुछ विद्वान् यह सिद्ध करते हैं कि पदार्थों की आकृति अंतःकरण में प्रतिबिंबित वा मुद्रित होती है, किंतु ब्रह्म-विद्या के आचार्य यह सिद्ध करते हैं कि अन्तःकरण स्वयं पदार्थों के रूप में तरंगायित और तदाकार होता है, और ज्ञान उस अंतःकरण को, जिसमें पदार्थों की आकृतियाँ मुद्रित हैं, या जो स्वयं पदार्थों के तद्रूप हो गया है, प्रकाशता व दिखलाता है। यद्यपि एक अकेला ज्ञान देवदत्त और विष्णुदत्त के विभिन्न अन्तःकरणों में प्रकाश डालता है, तथापि अन्तःकरणों की विभिन्नता के कारण देवदत्त के अन्तःकरण की तरंगें या प्रतिबिंब विष्णुदत्त के अंतःकरण की तरंगें या प्रतिबिंब नहीं होते। अतएव देवदत्त और विष्णुदत्त का ज्ञान तो एक है, किंतु देवदत्त की जानकारियाँ विष्णुदत्त की जानकारियाँ नहीं हो जातीं।

(३२) भगवत्-ज्ञान का प्रकाश सूर्य-प्रकाश के समान है और अंतःकरण सचित्र चादर के समान। और, यह स्पष्ट है कि चित्र चादर में चित्रित होता है, और सूर्य का प्रकाश उस चित्रण से निर्लिप्त है। परंतु जिस चित्र से वह चादर चित्रित होती है, उसी चित्र को उस चादर में सूर्य प्रकाशता वा प्रकट करता है। और, वही ज्योति जब दूसरी चादर में प्रकाशमान होती है, तो उस दूसरी चादर के चित्र को प्रकाशती वा प्रकट करती है। जिस प्रकार पहली चादर के चित्र दूसरी चादर में या दूसरी चादर के चित्र पहली चादर में नहीं आ जाते, उसी प्रकार एक अकेली ज्ञान-ज्योति से देवदत्त के अंतःकरण के चित्र या जानकारियाँ विष्णुदत्त के अंतःकरण के चित्र या जानकारियाँ नहीं हो जातीं।

(३३) इस स्थान पर ब्रह्मविद्या के आचार्यों का तात्पर्य यह है कि भगवत्-ज्ञान का स्वरूप सूर्य की किरणवत् शुद्ध है। जिस तरह सूर्य की किरण पवित्र-अपवित्र और सूक्ष्म व स्थूल वस्तुओं पर प्रकाशमान होती हुई अपवित्र व स्थूल नहीं हो जाती, उसी तरह भगवत्-ज्ञान जानकारियों को प्रकाशता हुआ उनसे विशिष्ट नहीं हो जाता। और, वेद की श्रुति इसीलिये भगवत्-ज्ञान को असंगात्मा या शुद्ध वर्णन करती है।

(३४) उक्त विचार का परिणाम यह है कि पदार्थों में अंतःकरण का संबंध पदार्थों को प्रतिबिंबित करने या उनसे तदाकार व तरंगायित होने के रूप में है, और भगवत्-ज्ञान का संबंध

उनको प्रकाशित करने के रूप में है। और, अंतःकरण तथा ज्ञान का एक ही साथ संबंध जानकारी की असलियत है। जिन लोगों को अंतःकरण और ज्ञान का परस्पर विवेक नहीं हुआ, उनमें इस प्रकार के भ्रम उठते हैं।

(३५) इस प्रकार की सूक्ष्म युक्तियाँ संस्कृत के बृहत् ग्रंथों में सविस्तर वर्णित हैं, जिसको जरूरत हो, वहाँ से ढूँढ़ ले। यहाँ इतनी ही संक्षिप्त युक्ति पर्याप्त समझकर भगवत्-ज्ञान की एकता दर्शाई गई है।

(३६) जिस कारण से देवदत्त का ज्ञान अपने साथी विष्णुदत्त के ज्ञान से भिन्न नहीं है, उसी कारण से ब्रह्मदत्त का ज्ञान (जिसकी मृत्यु कई वर्ष पहले हो चुकी है) जीवित देवदत्त और विष्णुदत्त के ज्ञान से भी भिन्न नहीं है। संसार में क्या भूत क्या वर्तमान और क्या भविष्य, तीनों काल की दृष्टि से ज्ञान एक है। किंतु उसके प्रकट होने के स्थान अर्थात् अंतःकरण अनेक और विभिन्न हैं । और, अंतःकरण की उपाधि के कारण ज्ञान भी अनेक प्रतीत होता है।

(३७) चूँकि ज्ञान एक सिद्ध हुआ है, उसकी एकता उसके नित्य होने में अकाट्य युक्ति है। क्योंकि ज्ञान का यदि विनाश मान लिया जाय, तो ज्ञान के विनाश, का साक्षित्व या तो ज्ञान ही में होगा, या ज्ञान से अन्य में। और, यह स्पष्ट है कि साक्षित्व व स्पष्टीकरण ज्ञान का धर्म है, ज्ञान से अन्य का नहीं। और, यदि ज्ञान के विनाश का साक्षित्व इसी विनाशी ज्ञान में माना

जाय, तो यह असंभव है, क्योंकि अपने विनाश का आप साक्षी व प्रकाशक होना बुद्धि-विहीन है। और, यदि एक ज्ञान के विनाश का साक्षी दूसरा ज्ञान मानें, तो हम ऊपर अकाट्य युक्तियों से सिद्ध कर चुके हैं कि ज्ञान एक है, अतः ज्ञात हुआ कि ज्ञान विनाशी भी नहीं है।

(३८) सुषुप्ति या मृत्यु में जो ज्ञान का अभाव या लोप अनुभव होता है, वह इसी प्रकार का विचित्र रहस्य है, जैसे दर्पण के नाश से दर्पण में प्रतिबिंबित आकृति लुप्त हो जाती है। और, स्पष्ट है कि दर्पण के टूटने या नाश से असल वस्तु (बिंब) दूर नहीं हो जाती। किंतु दर्पण में उसके प्रविष्ट होने का जो भ्रम था, वह जाता रहता है। इसी तरह देह के नाश से ज्ञान के प्रविष्ट होने का भ्रम जाता रहता है। ज्ञान अपने स्वरूप से नाश नहीं हो जाता।

(३९) जो लोग सुषुप्ति या मृत्यु में ज्ञान के नाश का निश्चय करते हैं, उनका निश्चय उस बालक के निश्चय के समान है, जो दर्पण के नाश से उसमें प्रतिबिंबित आकृति के नाश का भी निश्चय करता है, पर विचारवानों के समीप यह मूर्खता व अज्ञानता है।

(४०) ज्ञान की नित्यता पर दूसरी युक्ति यह है कि ज्ञान मिश्रित वस्तु नहीं है। क्योंकि ज्ञान यदि मिश्रित वस्तु होती, तो ज्ञान पदार्थ एक ही काल में ज्ञात और अज्ञात दोनों मालूम होता, इसलिये कि ज्ञान के एक भाग में वह (पदार्थ) ज्ञात

होता और दूसरे भाग में अज्ञात। पर यह अनुभव-विरुद्ध है। इसलिये ज्ञान मिश्रित वस्तु नहीं, किंतु अद्वैत या व्यापक है। और, अद्वैत वस्तु नाश के योग्य नहीं। यही अभीष्ट था।

(४१) तीसरी युक्ति यह है कि इसी उपदेश में, दफ़ा ८ से दफ़ा १४ तक, यह सिद्ध किया गया है कि समस्त संसार ज्ञान आकृतियाँ है। और, भगवत्-ज्ञान उसका अधिष्ठान है। और, दर्शन-शास्त्र तथा ब्रह्मविद्या में यह सिद्ध हो चुका है कि नाश आकृति का होता है, आकृति के अधिष्ठान का नहीं। अतः भगवत्-ज्ञान पर किसी कारण से नाश का अनुमान उचित नहीं। भगवत्-ज्ञान के संबंध में इस प्रकार की और युक्तियाँ भी संस्कृत के बृहत् ग्रन्थों में वर्णित हैं, जिसको सविस्तर अधिक जानना हो, से वह वहाँ ढूँढ़ ले।

(४२) इस बात के प्रमाण में कि ज्ञान निर्विकार व निरवयव है, अधिक युक्तियों की आवश्यकता नहीं। क्योंकि भगवत्-ज्ञान वास्तव में चक्षु या ख़याल का विषय नहीं, क्योंकि चक्षु या ख़याल का विषय आकृति व रंग-रूप हैं, और ज्ञान इस आकृति व रंग-रूप से परे है। और, यह असंभव है कि उसको किसी स्थान विशेष में संबंधित करें। मस्तिष्क में यद्यपि उसका प्रकाश है, पर वह मस्तिष्क के भीतर स्थित (बद्ध) नहीं, क्योंकि मस्तिष्क में उसका प्रकाश प्रतिबिंब रूप से है। और, स्पष्ट है कि सूर्य दर्पण में स्थित (बद्ध) नहीं हो सकता। यही अवस्था भगवत्-ज्ञान की मनुष्य के मस्तिष्क के संबंध में है।

(४२) संक्षेप से तात्पर्य यह है कि ब्रह्मविद्या में यह अकाट्य युक्ति से सिद्ध हो चुका है कि यही भगवत्-ज्ञान ईश्वर-परमात्मा है। चुनाँचि उन युक्तियों पर संक्षेप से ऊपर संकेत किया गया है। अब आप लोगों को भगवत्-ज्ञान के ईश्वरत्व में किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिए। और, समाधि में वह आपके भीतर दिखाई देता है, अतः आप लोग अन्तर्ध्यान हो जाओ, और उसके स्वरूप के प्रकाश में आनन्द लाभ करो कि वह अत्यंत सुंदर है, और उसी में प्रेम-भक्ति तथा विनय-प्रार्थना करो। और, जो कोई भगवत्-ज्ञान के ईश्वरत्व का इनकारी हो, उसे नास्तिक समझो, उसके वचन पर कदापि विश्वास न करो।

ॐ इति

उपदेश तीसरा

(१) ऐ प्यारो ! मैं पहले उपदेशों में सिद्ध कर चुका हूँ कि भगवत्-ज्ञान ही ईश्वर-परमात्मा है, और इससे तुमको अंतर्ध्यान या भगवत्-दर्शन हो चुका है। और, ज्ञानियों की यह प्रथम भूमिका है। अभी इससे बढ़कर और बहुत सी भूमिकाएँ हैं। मैं चाहता हूँ, शनैः-शनैः आप लोगों को समस्त भूमिकाओं की सैर कराऊँ।

(२) मेरे पहले उपदेशों से यह तो सिद्ध हो चुका है कि भगवत्-ज्ञान ही ईश्वर है, किंतु अभी तक यह नहीं मालूम हुआ कि बाहर-भीतर समस्त जो कुछ दिखाई देता है, भगवत्-ज्ञान या ईश्वर-परमात्मा ही है। अब मैं इस तीसरे उपदेश में यह सिद्ध करना चाहता हूँ कि भगवत्-ज्ञान या ईश्वर-परमात्मा से इतर कुछ भी विद्यमान नहीं, वरन् जो कुछ दिखाई देता है, वह ज्ञान ही है। वही वेद की श्रुति स्पष्ट आज्ञा करती है कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"*—"यहसब निश्चय करके ब्रह्म ही है।" और, मैं इस श्रुति का कुछ प्रत्यक्ष अनुभव कराना चाहता हूँ। कान धरकर सुनो।

(३) ब्रह्मविद्या में हम पर यह स्पष्ट हुआ है कि भगवत्-

---

* देखो छांदोग्य उप० प्र० ३, खं० १४ मं० १।

ज्ञान ही ईश्वर है "प्रज्ञानं ब्रह्म *।" और समस्त जो कुछ दीख रहा है, समस्त ज्ञान-आकृतियाँ हैं। ज्ञान से इतर कुछ विद्यमान नहीं। वरन् जिस प्रकार समुद्र में जल तरंगायित होकर तरंग तथा बुद्बुद इत्यादि के रूप में अनेक आकृतियों में दीखता है, उसी प्रकार एक ही ज्ञान तरंगायित तथा विकसित हुआ जगत् दिखाई देता है।

(४) जो मनुष्य ज्ञान की विचित्रताओं से भले प्रकार परिचित हो चुका है, वह उक्त वाक्य को पूर्ण विश्वास के साथ समझ सकता है। क्योंकि ज्ञान वास्तव में मनुष्य को प्राप्त है, और वह उसके गुण व विचित्र रहस्यों को यदि चाहे, तो पूर्ण रूप से मालूम कर सकता है।

(५) देखो, जब हम किसी वस्तु की कल्पना करते हैं, तो उस वस्तु की आकृति अपने ज्ञान में विद्यमान पाते हैं, और वह प्राप्त आकृति ज्ञान से इतर कोई वस्तु नहीं, वरन् ज्ञान ही है, जैसा कि जल-तरंग जलमात्र होती है। इससे मालूम हुआ कि भगवत्-ज्ञान ही जगत् के रूप में प्रकाशमान हुआ है।

(६) स्वप्न में जब हम जाते हैं, तो ज्ञान की विचित्र शक्ति व माया उस समय मालूम होती है कि पृथिवी, आकाश और जो कुछ उनमें है, वे सब आकृतियाँ ज्ञान में आ उत्पन्न होती हैं, और उसी प्रकार जगत् दीखता है, जैसे जाग्रत् में हम अब देख रहे हैं। और, यह स्पष्ट है कि स्वप्न में ज्ञान आकृतियों

---

* ऐतरेयोपनिषद् अ० ३, खंड १, मं० ७।

के अतिरिक्त वरन् ज्ञान से इतर कुछ नहीं है। किंतु स्वप्न के रहस्य-विशेष से ज्ञानाकृतियाँ सच्ची घटनाएँ मालूम होती हैं, और यह नहीं जाना जाता कि अकेला ज्ञान ही अनेक आकृतियों में विद्यमान हुआ है।

(७) ब्रह्मविद्या के आचार्य यह प्रतिपादन करते हैं कि भगवत्-ज्ञान में एक संकल्प या ख़्याल है। जब वह उठता है, तो मनोराज होता है। और, मनुष्य को यह अस्पष्ट नहीं है कि निरुद्ध-चित्त मनुष्य से अतिरिक्त कोई भी मनोराज से खाली नहीं है। यह मनोराज वास्तव में भगवत्-ज्ञान की फुरना या तरंग है। अर्थात्, ज्ञान जब स्थिर होता है, उस समय मनोराज का अभाव होता है, और जब ज्ञानरूपी समुद्र तरंगायित होता है, उस समय ख़्याल या मनोवृत्तियाँ परस्पर संबंध रखती हुई एक दूसरे के पीछे लगातार प्राप्त होती हैं।

(८) आचार्यों का यह कथन है कि स्वप्न में जब मनोराज अति दृढ़ या पक्का हो जाता है, उस समय यही मनोराज-मात्र कल्पित आकृतियाँ मानो सच्ची घटनाएँ दिखाई देती हैं। वरन् जाग्रत्-अवस्था में भी जब प्रायः किसी आकृति की कल्पना की जाती है, तो वह आकृति पक्के अभ्यास के बाद ऐसी प्रत्यक्ष दीखती है, मानो वास्तव में विद्यमान है। चुनाँचे प्रेम के मतवाले, पागल या सिड़ी लोगों में इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव भले प्रकार होता है। निदान, संकल्प या ख़्याल

का उठना मनोराज है, और मनोराज का दृढ़ या पक्का होना सच्ची घटनाओं का होना है।

(९) भारतवर्ष के ब्रह्मवेत्ता यह प्रतिपादन करते हैं कि सृष्टि के आदि में शुद्ध (अपरिच्छिन्न) ज्ञान निश्चेष्ट व शान्तावस्था में था, और ज्ञान से इतर कुछ नहीं था। परन्तु जब उसमें क्षोभ या फुरना हुई, तो उसमें से संकल्प या ख़्याल उठा, तथा पृथिवी, आकाश और जो कुछ उसमें है, उनका मनोराज हुआ। फिर वही मनोराज दृढ़ या पक्का हो गया, और वही सच्ची घटना के रूप में दिखाई दिया। इस कारण एक ही ज्ञान जगदाकार दृष्टिगोचर हुआ, और ज्ञानाकृतियाँ प्रत्यक्ष वस्तुओं के रूप में दिखाई दीं।

(१०) जिस प्रकार आदि संकल्प में पृथिवी, आकाश आदि समस्त पदार्थों की आकृतियाँ कल्पित हुईं, उसी प्रकार उसमें मनुष्य की आकृति भी कल्पित हुई। और, वही शुद्ध (अपरिच्छिन्न) ज्ञान नाना गुणों से युक्त जगत्-रूप में परिच्छिन्न हुआ, उसी सजधज या पूर्णता के साथ मनुष्य-विशेष की आकृति में परिच्छिन्न होकर जगत् का साक्षी व द्रष्टा हुआ।

(११) मानवीय आकृति-परिच्छिन्न ज्ञान में, जिसे जीवात्मा कहते हैं, वही परिपूर्णताएँ स्वप्न-काल में स्पष्ट सिद्ध होती हैं, क्योंकि स्वप्न में जब हम जाते हैं, तो हमारे ज्ञान में उसी तरह संकल्प या ख़्याल उठता है, जिस तरह सृष्टि के आदि में आदि संकल्प उठा था। और, हमारा यही ज्ञान पृथिवी, आकाश आदि

आकृतियों को कल्पित करता हुआ हमारी अपनी विशेष आकृति भी कल्पित करता है। और फिर उस स्वप्न-आकृति में उसी तरह परिच्छिन्न हो जाता है, जिस तरह इस स्वप्न से बाह्य (स्थूल) आकृति में परिच्छिन्न हुआ था। और, इसी तरह व्यवहार करता है, जैसा अब जाग्रत् में करता है।

(१२) ब्रह्मविद्या के आचार्य प्रतिपादन करते हैं कि जो संबंध स्वप्न-पुरुष का स्वप्न से बाह्य अर्थात् जाग्रत्-पुरुष से है, वही संबंध स्वप्न से बाहरवाले (जाग्रत्) पुरुष का आदि पुरुष अर्थात् ईश्वर से है। और जो संबंध स्वप्न-संसार का जाग्रत् पुरुष से है, वही संबंध जाग्रत्-जगत् का आदि पुरुष या ईश्वर से है। अर्थात्, जिस तरह स्वप्न-संसार जाग्रत्-पुरुष का संकल्प-मात्र है, उसी तरह यह जाग्रत्-जगत् आदि-जीव या ईश्वर का संकल्प-मात्र है। और, यह स्पष्ट है कि स्वप्न-पुरुष का संबंध जाग्रत्-पुरुष से अभेदता का है, क्योंकि स्वप्न-पुरुष की समस्त जानकारियों को जाग्रत्-पुरुष जाग्रत्-काल में वर्णन करता है। वैसा ही जाग्रत्-पुरुष का संबंध आदि-पुरुष अर्थात् ईश्वर-परमात्मा से एकता का है। अतः क्या स्वप्न-संसार क्या जाग्रत्-जगत् वास्तव में पुरुष का मनोराज या ख़्याल है, असल में कुछ हुआ नहीं। दर्जों या पदवियों का भेद उपाधियों और परिच्छिन्न अवस्थाओं के कारण है।

(१३) यद्यपि स्वप्न-संसार और जाग्रत्-जगत् दोनों ही संकल्प-मात्र हैं, तथापि स्वप्न-संसार ज्ञान का सादि संकल्प अर्थात्

पीछे का संकल्प है, और जाग्रत्-जगत् ज्ञान अर्थात् ईश्वर का आदि संकल्प है। इस कारण जब मनुष्य स्वप्न में जाता है, तो स्वप्न-संसार उत्पन्न होता है, और जब वह जागता है, तो समस्त नाश हो जाता है। क्योंकि उसका उपादान कारण ज्ञान का सादि या पीछे का संकल्प है, और वह (संकल्प) जाग्रत्-अवस्था में बदल जाता है, इसीलिये उसका कार्य अर्थात् स्वप्नावस्था वा स्वप्न-संसार भी बदल जाता है। परंतु बाह्य (जाग्रत्) जगत् का उपादान कारण आदि संकल्प है, जो प्रलय तक नहीं बदलता। इसीलिये उसका कार्य-रूप जाग्रत्-जगत् भी नहीं बदलता। इसलिये जिज्ञासु को यह भ्रम होता है कि स्वप्न-संसार तो संकल्प-मात्र है और जाग्रत्-जगत् सच्ची घटना है।

(१४) ज्ञान के इस विचित्र रहस्य को स्पष्ट करने के लिये स्वप्न में स्वप्न की कल्पना करो, और मानो कि किसी को स्वप्न में स्वप्न हुआ है, तो स्वप्न में स्वप्न का जगत् ज्ञान का तृतीय संकल्प है, और प्रथम स्वप्न-संसार ज्ञान का सादि या द्वितीय संकल्प है। अब यह स्पष्ट है कि जब स्वप्न के भीतरवाले स्वप्न से जागेगा, तो (प्रथम) स्वप्न के संसार में उठेगा। इस दशा में स्वप्न के भीतर का स्वप्न-संसार नष्ट हो जायगा, क्योंकि उसका उपादान कारण, जो ज्ञान का तृतीय संकल्प है, बदल गया है। पर प्रथम स्वप्न-संसार वैसा ही दीखेगा, क्योंकि ज्ञान का द्वितीय संकल्प उससे नहीं बदला। इस दशा में मनुष्य को (प्रथम) स्वप्न-संसार

स्वप्न के भीतरवाले स्वप्न-संसार की अपेक्षा सत्य प्रतीत होगा। और, यह भगवत्-ज्ञान का विचित्र रहस्य है।

(१५) यद्यपि स्वप्न के भीतरवाले स्वप्न-संसार की अपेक्षा प्रथम स्वप्न-संसार सत्य प्रतीत होता था, तथापि जब मनुष्य स्वप्न-संसार से निकलता और जाग्रत्-जगत् में उठता है, तो स्वप्न-संसार और स्वप्न के भीतरवाला स्वप्न-संसार अर्थात् दोनों को एक-सा संकल्प-मात्र जानता है। अतः जो संबंध स्वप्न के भीतरवाले स्वप्न-संसार का (प्रथम) स्वप्न-संसार से है, वही संबंध प्रथम स्वप्न-संसार का जाग्रत्-जगत् से है। किंतु इस स्वप्न से, जिसको हम जाग्रत्-जगत् कहते हैं, मनुष्य मृत्यु या महाप्रलय तक नहीं उठता, इसलिये वह उसे सत्य समझता है।

(१६) भारतवर्ष के ब्रह्मवेत्ता यह कहते हैं कि जब मृत्यु आती है, उस समय यह जाग्रत्-जगत् स्वप्न के समान प्रतीत होता है। परंतु जिस प्रकार स्वप्न से निकलकर जाग्रत्-जगत् में आ जाता है, उसी प्रकार मृत्यु में इस जाग्रत् संसार से निकल-कर परलोक में उठता है। और, वहाँ भी स्वर्ग, नरक तथा परलोक के समस्त व्यवहारों को देखता है। परंतु चूँकि वह परलोक-संसार इस स्थूल जगत् की अपेक्षा अधिक स्थायी है, इसलिये वह (परलोक) सत्य प्रतीत होता है, और जाग्रत्-जगत् कल्पित या स्वप्नवत् मालूम होता है। जिस प्रकार जाग्रत्-जगत् में वह फिर सो जाता है, और स्वप्न-संसार को देखता है, तथा जब

जागता है, तो उसी जाग्रत्-जगत् को देखता है, इसी प्रकार परलोक से फिर वह इसी जगत् में आता है, और जन्म होता है, तथा फिर मृत्यु होने पर परलोक में चला जाता है। निदान, बार-बार जन्म-मरण होता है, और कल्पित संसारों में भ्रमण करता है। परंतु ज्ञान के आदि संकल्प के प्रत्येक जगत् को सादि अथवा द्वितीय संकल्प के जगत् की अपेक्षा सत्य तथा वास्तविक गुमान करता है। और, द्वितीय संकल्प के जगत् को प्रथम संकल्प के संसार की अपेक्षा कल्पित या मिथ्या जानता है। वास्तव में समस्त संकल्प तथा ज्ञानाकृतियाँ स्वयं भगवत्-ज्ञान हैं, जो जीवात्मा का स्वरूप है।

(१७) परलोक में संकल्प की अवस्थाएँ और दर्जे अगणित हैं। जैसे सुरलोक, भूलोक, महर्लोक, ब्रह्मलोक, सत्यलोक इत्यादि। और, हरएक का दूसरे से वही संबंध है, जो स्वप्न-संसार का जाग्रत्-जगत् से या जाग्रत्-जगत् का परलोक से है।

(१८) इस संबंध में ब्रह्मविद्या के आचार्यों का अभिप्राय यह है कि जब वह एक प्रकार के संकल्पों को बदलता है, तो दूसरे प्रकार के संकल्पों में तरंगायित होता है। इसमें विचित्र रहस्य यह है कि आदि-संकल्प वास्तव में संकल्प नहीं और सादि अर्थात् पीछे का संकल्प संकल्प-मात्र प्रतीत होता है। वास्तव में समस्त अवस्थाएँ भ्रम-मात्र या संकल्प-मात्र हैं, वास्तविक नहीं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उस समय मिलता है, जब वृत्तियों को अभ्यास और संयम से रोका जाय।

क्योंकि उस समय वृत्ति अभ्यास तथा संयम से रुक जाती है और मन वृत्ति-विहीन (निरुद्ध) हो जाता है, तो वह कैवल्य अवस्था को प्राप्त होता है, जहाँ आत्मस्वरूप से इतर कुछ दिखाई नहीं देता। इसी को संस्कृत-भाषा में तुरीयावस्था कहते हैं। उस समय पूर्ण निश्चय हो जाता है कि आत्मा से इतर जो कुछ है, वह भ्रम या संकल्प-मात्र है। उपासना तथा संयम के समस्त नियम इसी निरोध को पाने के उद्देश से नियत किए गए हैं।

(१९) जब मालूम हुआ कि क्या स्वप्न-संसार क्या जाग्रत्-जगत् और क्या परलोक, सबका आदि कारण एक अकेला संकल्प है, और संकल्प भगवत्-ज्ञान की विभूति या महिमा है, जिसमें विभिन्न प्रकार की विभूतियाँ तथा ज्ञानाकृतियाँ दिखाई देती हैं, इसलिये वास्तव में भगवत्-ज्ञान ही विद्यमान है, जो एक होते हुए भी अपनी विचित्र शक्तियों व विभूतियों के कारण बहुसंख्यक प्रतीत होता है। देखो, तरंगायित समुद्र में एक जल-मात्र ही है, परंतु तरंगायित अवस्था में कहीं बुद्बुद और कहीं भँवर आदि अनेक नाम-रूपों में दिखाई देता है। यदि विचार-दृष्टि से देखें, तो क्या बुद्बुद और क्या तरंग, सभी जल-स्वरूप हैं, वरन् प्रत्येक तरंग और बुद्बुद के भीतर-बाहर जल से इतर कुछ नहीं। वैसे ही प्रत्येक वस्तु, जो दिखाई देती है, विचार-दृष्टि से ज्ञान-मात्र या ज्ञानाकृति है।

(२०) इस रहस्य का भेद जिज्ञासु पर, जब वह स्वप्न-

अवस्था से निकलता है, स्पष्ट खुलता है। क्योंकि स्वप्न में यद्यपि स्वप्न-संसार ठीक ज्ञान-स्वरूप नहीं प्रतीत होता, वरन् जिस प्रकार यह जाग्रत्-जगत् अपने से भिन्न दिखाई देता है, उसी प्रकार उस समय अर्थात् स्वप्न में स्वप्न-संसार भी वैसा ही प्रतीत होता है। तो भी जाग्रत्-अवस्था में निश्चय हो जाता है कि जो कुछ दिखाई दिया था, वह समस्त ज्ञानाकृति था, क्योंकि एक ज्ञान से इतर वहाँ और कोई वस्तु न थी। यह भगवत्-ज्ञान का विचित्र भेद है।

(२१) सबसे विचित्र रहस्य यह है कि वास्तव में भगवत्-ज्ञान स्वयं प्रत्येक आकृति और विभूति में दिखाई देता है, किंतु भ्रम यह होता है कि प्रथम वस्तु नाश हो गई, और नवीन वस्तु उत्पन्न हुई, यद्यपि एक ही वस्तु हर नई विभूति में विभूतिमान् और हर नई अवस्था में प्रकाशमान होती है।

(२२) यह भूल विशेषकर बुद्धि की है, क्योंकि बुद्धि ने घट तथा चित्र को रचित और बनावटी समझा। चूँकि उसने घट को कुम्हार के आश्रय और चित्र को चित्रकार के आश्रय देखा है, इसलिये अनुमान कर लिया कि ये बाह्याभ्यन्तर वस्तुएँ भी इसी प्रकार रचित और बनावटी हैं, और इनका कोई स्रष्टा या निर्माता आवश्यकीय है। अतः जगत् को रचित और सृजित समझ लिया, और इससे विभिन्न अर्थात् नाम-रूप जगत् से बाहर किसी स्रष्टा या निर्माता की कल्पना कर ली।

(२३) भारत के तत्त्ववेत्ताओं का कथन है कि यदि दूत के वेश में सम्राट् सिकन्दर नौशाबा के सामने नौकरों के रूप में आ खड़ा हुआ, तो आप ही संदेशा भेजनेवाला और आप ही दूत है। उसके भेष बदलने से उसकी निजी पवित्रता और महिमा में कोई त्रुटि उत्पन्न नहीं होती। परंतु जिन लोगों को इस भेद का पता नहीं, उन्होंने सिकन्दर को सिकन्दर का नौकर गुमान किया, और नौशाबा ने जब पहचाना, तो सिंहासन पर स्थान दिया। अतः वे विद्वान् और पंडित, जो अद्वैत सिद्धान्त के भेदों और रहस्यों से परिचित नहीं, सृष्टि और स्रष्टा के झगड़ों में परस्पर लड़ने लग जाते हैं। परंतु ज्ञानी लोग उसको, जिस विभूति में वह प्रकट होता है, नौशाबा की तरह पहचान लेते हैं, और प्रत्येक विभूति में उसकी उपासना, मान, प्रतिष्ठा व पूजा करते हैं।

(२४) यह भूल तथा भ्रम केवल पंडितों या विद्वानों को ही नहीं हुआ, वरन् प्रायः उन महान् पुरुषों को भी हुआ, जिन्होंने अपने को ईश्वर-दूत होने का दावा किया। और, उन्होंने इस सिद्धान्त के प्रचार में कि "सृष्टि ईश्वर से भिन्न है, और इसका सत्कार या पूजन न किया जाय"—बहुत-से परिश्रम किए, और खड्ग चलाए, यद्यपि वह स्वयं अंधकार और नास्तिकता में पड़े हैं। क्योंकि उनकी बुद्धि पर विभूति के विकार ने ऐसा आवरण डाल दिया, जिससे उन्होंने नित्य और अनादि स्वरूप को अपनी कल्पित माया के भेष में आने के कारण सृष्टि मान लिया।

इस वाद-विवाद को हम यहीं छोड़ते हैं, क्योंकि मत-मतान्तर में अंध लोग इस प्रकार के वाक्यों में झगड़ा करने को तैयार हो जाते हैं। यद्यपि हमारे विचार में यह भ्रम, यह पक्षपात और यह ईश्वरीय दूत होना सब-के-सब वही एक भगवत्-ज्ञान की विभूतियाँ हैं, जिनका वर्णन ज्ञान-प्राप्ति के पहले अति कठिन है।

(२५) भारत के ब्रह्मविद् आचार्यों का कथन है कि वास्तव में न सृष्टि है और न स्रष्टा, बल्कि एक ही वस्तु हर रूप व हर विभूति में प्रकाशमान हो रही है, और विभूति के परिवर्तन पर 'यह सृष्टि है' और 'यह सृष्टा है' इस प्रकार मानना नास्तिकता है। जैसे देवदत्त बैठा था, खड़ा हो गया, तो उसकी यह महिमा नई हुई। वास्तव में देवदत्त न स्रष्टा है, न सृष्टि। भगवत्-ज्ञान की भी दो विभूतियाँ व्यक्त और अव्यक्त हैं, और प्रत्येक विभूति नई और एक के बाद दूसरी होती है, पर वास्तव में न कुछ सृष्टि है और न स्रष्टा-भाव।

(२६) यदि विचारवान् मनुष्य संसार के पदार्थों के गुणों पर ध्यान-पूर्वक विचार करके देखे, तो यह सुगमता से मालूम होगा कि प्रत्येक वस्तु का एक ही तत्त्व से परस्पर संबंध है, और उस एक ही तत्त्व पर उपाधि का परिवर्तन देखने-मात्र है। क्योंकि यह घटना स्वतःसिद्ध है कि जल वायुरूप हो जाता है, और वायु जलरूप हो जाती है। इसका अनुभव अनुभवी को भपका यंत्र द्वारा पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि जब वायु का रूप जलरूप में परिणत होता है, तो वही एक अधिष्ठान जो पहले वायरूप का वेश पहने हुए था, अब जलरूप के वेश में दिखाई देता है। परंतु जो सूक्ष्म दृष्टिवाला नहीं है, इस परिवर्तन से उसे यह भ्रम होता है कि वायु का नाश हो गया, और जल नया उत्पन्न हो गया।

(२७) यह घटना केवल जल-वायु के संबंध में ही नहीं, वरन् चारों तत्त्व परस्पर एक दूसरे में इसी प्रकार परिणत होते हैं। इसी कारण तत्त्ववेत्ताओं ने इन तत्त्वों का मूल-कारण एक माना है, और यह सिद्ध किया है कि इसी एक कारणरूप अधिष्ठान के आश्रय चारों तत्त्वों का रूपान्तर होता है। और, यह भी सिद्ध किया है कि समस्त वस्तुएँ इन चारों तत्त्वों से मिश्रित हैं। और, ये मिश्रित वस्तुएँ भी इसी एक कारणरूप अधिष्ठान में मिली होती हैं, और इसी तरह रूपान्तर होती हैं। अतः वास्तव में संसार का एक अणु भी नष्ट नहीं होता, वरन् एक रूप दूसरे रूप में बदल जाता है।

(२८) यद्यपि शास्त्रवेत्ता असली तत्त्व तक पहुँचते हैं, पर भूल उनमें यह है कि इस मूल-कारण को जड़ जानते हैं। इसलिये उन्हें अधिष्ठान का स्वरूप ज्ञान सिद्ध नहीं हुआ, और भगवत्-ज्ञान का यह विचित्र रहस्य है। क्योंकि भगवत्-ज्ञान में जो संकल्प या ख़याल है, वही हर रूप से तद्रूप होता है। उसमें विचित्र शक्ति यह है कि जब वह जड़ वस्तुओं

के तद्रूप होता है, तो अपने अधिष्ठान को अपनी आवरण-शक्ति द्वारा ढक लेता है, और भगवत्-ज्ञान अविद्यमान रहता है, इसलिये वह जड़ मालूम होता है। और, जहाँ यही संकल्प चेतन व्यक्ति के रूप में बदलता है, तो अपने अधिष्ठानरूप भगवत्-ज्ञान को वह नहीं ढाँपता, वरन् उसका प्रकाशक होता है। इस विचित्र रहस्य का अनुभव स्वप्न में स्पष्ट होता है। क्योंकि यह सिद्ध है कि स्वप्न-संसार में जो कुछ दीखता है, वह सब ज्ञानाकृतियाँ या कल्पित आकृतियाँ हैं, और अधिष्ठान उस (स्वप्न-संसार) का भगवत्-ज्ञान है। परन्तु जहाँ यह संकल्प पृथ्वी और आकाश के रूप में तद्रूप होता है, वहाँ भगवत्-ज्ञान उसी प्रकार जड़ और अविद्यमान मालूम होता है, जैसे जड़ पदार्थ बाहर दिखाई देते हैं। परन्तु जहाँ मनुष्य और पशु के रूप का संकल्प है, वहाँ भगवत्-ज्ञान ज्योतियों की ज्योति दिखाई देता है। यह विचित्र रहस्य भगवत्-ज्ञान का है, जिसको दर्शन-शास्त्र नहीं पा सका। अतः वास्तव में न मूल-कारण है, न रूप, केवल भगवत्-ज्ञान विद्यमान है, और उसमें संकल्प हर रूप में बदलता और ज्ञान की विचित्रताएँ दिखाता है।

(२९) ब्रह्मविद्या के आचार्य कहते हैं कि स्वप्न-संसार के समान जाग्रत्-जगत् भगवत्-ज्ञान का संकल्प है, किंतु ज्ञान के गुह्य भेदों के कारण वह ऐसा प्रत्येक को भान नहीं होता, क्योंकि ज्ञान का विचित्र गुण यह है कि वह क्रिया व प्रति-क्रिया से रहित है, वरन् क्रिया-प्रतिक्रिया और भाव-प्रभाव

संकल्पमयी मूर्ति है, या ख़याली आकृति के अधीन है, क्योंकि जिस समय अग्नि की आकृति कल्पित होती है, तो उस आकृति के अधीन उसके संबंधी विशेष प्रकाश और तेज भी स्पष्ट होते हैं। इसी तरह जब जल के रूप का संकल्प होता है, तो उसके अधीन शीत और तरी भी अवश्य आती है। और, इन प्रभावों के कारण संकल्परूपी जगत् असली या बाह्य जगत् गुमान होता है।

(३०) जहाँ संकल्पमय जगत् में ये प्रभाव उसके साथ-साथ अवश्य नहीं आते, वहाँ वह संकल्पमय जगत् सच्चा नहीं दिखाई देता। जैसे जिस समय सर्प के भ्रम से रज्जु में कल्पित सर्प की आकृति उत्पन्न होती है, उस समय स्वेच्छाचारिता और डंक या डसने तथा मारने का दुःख उसमें अवश्य नहीं होते, इसलिये वह सर्प कल्पित और ख़्याली मालूम होता है। और जहाँ सर्प की आकृति में उसके आश्रित गुण स्पष्ट होते हैं, वहाँ सर्प असली प्रतीत होता है, जैसे स्वप्न के समय संकल्पमयी सर्प की आकृति में उसके साथी व संबंधी गुण स्पष्ट होते हैं। उस समय मनुष्य उसको कल्पित नहीं जान सकता, यद्यपि वह वास्तव में कल्पित व भ्रम-मात्र है।

(३१) इस विचित्र रहस्य की व्याख्या में उन्होंने यह लिखा है कि भगवत्-ज्ञान में जो संकल्प संसार का उपादान कारण है, जब वह संसार के संकल्प के रूप में प्रत्यक्ष आकृतियों के आकार का होता है, उस समय अपने सदृश आकृति भी कल्पित करता

है। और पहला संकल्प आदि संकल्प तथा दूसरा संकल्प सादि संकल्प कहलाता है।

(३२) विचार द्वारा ब्रह्मविद्या में यह तय पाया है कि एक अकेले संकल्प से कल्पित आकृतियों में क्रिया-प्रतिक्रिया और भाव-प्रभाव एक साथ ही प्रकट होते हैं, किंतु आदि संकल्प की आकृतियाँ सादि संकल्प की आकृतियों में या सादि संकल्प की आकृतियाँ आदि संकल्प की आकृतियों में आधार-आधेय अथवा एक दूसरे की अधीनता का संबंध नहीं रखतीं।

(३३) इसी विचित्रता के कारण बाह्य जगत् में आदि संकल्प की आकृतियाँ परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया एक साथ रखती हैं, और स्वप्न-संसार की आकृतियाँ भी इसी प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया एक साथ रखती हैं। किंतु रज्जु में सर्प का भ्रम जाग्रत्-अवस्था में क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं करता, क्योंकि यह सर्प-आकृति मनुष्य-आकृति के परिच्छिन्न सादि संकल्प का ख़्याल है। और जाग्रत्-जगत् तो अपरिच्छिन्न आदि संकल्प की कल्पना है। पर हाँ, जिस प्रकार सर्प की आकृति का भ्रम रज्जु में हुआ, उसी प्रकार यदि उसमें मनुष्य का भ्रम भी हो जाता, तो उक्त नियत तरीक़े से इन आकृतियों में भाव-प्रभाव तथा क्रिया-प्रतिक्रिया भी एक साथ प्रकट हो जाती। यही कारण है कि स्वप्न-संसार में कल्पित सर्प की आकृति कल्पित मनुष्य की आकृति में क्रिया-प्रतिक्रिया करती है।

(३४) चूँकि जाग्रत्-अवस्था में रज्जु में सर्प-भ्रम के समय सर्प ही की अकेली आकृति कल्पित होती है, और संसार की

शेष आकृतियाँ पहले ख़्याल की कल्पनाएँ हैं, इसलिये वे तो स्वयं उक्त नियमानुसार परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया रखती हैं, पर सर्प की कल्पित आकृति से, जो सादि संकल्प का भ्रम या कल्पना है, वे प्रभावित या प्रभावक नहीं होतीं। इसी कारण आदि संकल्प की कल्पनाएँ सत्य या असली और सर्प की कल्पना (जो सादि संकल्प की कल्पना है) असत्य या नक़ली मालूम होती है।

(३५) स्वप्न-अवस्था में यद्यपि स्वप्न-संसार सादि संकल्प की कल्पना है, तथापि वे सब आकृतियाँ एक अकेले संकल्प की आकृतियाँ हैं, इसलिये परस्पर प्रभावक और प्रभावित होती हैं। उस समय वे भी सत्य या असली दिखाई देती हैं। वास्तव में क्या बाह्य-जगत्, क्या स्वप्न-संसार और क्या कल्पित आकृति सब-के-सब भ्रम-मात्र या संकल्प-मात्र हैं।

(३६) जब स्वप्न-अवस्था से मनुष्य निकलता है, तो आदि संकल्प के कल्पित अथवा भौतिक शरीर की दृष्टि से (स्वप्न-जगत् के) उन प्रभावों को नष्ट देखता और जाग्रत्-अवस्था में स्वप्न-संसार को भ्रममात्र निश्चय करता है। कल्पना करो, किसी को स्वप्न में साँप ने काटा है। उस समय उसको अवश्य सूजन होती पीड़ा होती है, क्योंकि सर्प-आकृति तथा मनुष्य-आकृति की कल्पना का एक अकेला कारण सादि संकल्प था। और जाग्रत् समय मनुष्य-आकृति आदि संकल्प की कल्पना से संबंध रखती है, इसलिये स्वप्न-सर्प के डंक की सूजन और पीड़ा उसकी दृष्टि से अभाव हुई भ्रममात्र मालूम होती है।

(३७) यह नहीं गुमान करना चाहिए कि जिस तरह स्वप्न-संसार के प्रभाव जाग्रत्-अवस्था में नष्ट होते हैं, उसी प्रकार जाग्रत् के प्रभाव स्वप्नावस्था में भी नष्ट होते हैं, अतः जिस प्रकार स्वप्न-अवस्था जाग्रत् में भ्रममात्र निश्चय होती है, उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्था स्वप्न-अवस्था में भ्रम-मात्र निश्चय होनी चाहिए। क्योंकि इसमें संकल्प का एक अन्य विचित्र भेद है, जो नीचे दर्ज किया जाता है—

(३८) इसमें सन्देह नहीं कि जिस तरह स्वप्न-संसार के प्रभाव जाग्रत्-अवस्था में नष्ट होते हैं, उसी तरह जाग्रत् के प्रभाव स्वप्न-अवस्था में नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि रोगी मनुष्य स्वप्न में अपने आपको स्वस्थ ख़्याल करता है, जाग्रत्-अवस्था के रोग या पीड़ा से प्रभावित नहीं होता। तथापि ब्रह्मविद्या के आचार्य यह कहते हैं कि सादि संकल्प आदि संकल्प का अवस्था-संकल्प है। और, विवेचना से सिद्ध हुआ है कि प्रतिबिंब अपने बिंब में या अवस्था-संकल्प मूल-संकल्प में एकता का संबंध रखता है। जिस तरह अवस्था-संकल्प अपने मूल-संकल्प में एकता का संबंध रखता है, उसी तरह अवस्था-संकल्प की कल्पनाओं का मूल-संकल्प की कल्पनाओं से एकता का संबंध होता है। इसीलिये स्वप्न-काल में स्वप्न-अवस्था का जाग्रत्-अवस्था से अन्तर भान नहीं होता, किंतु उस समय एक अकेले संसार का भान होता है। ऐसी दशा में जाग्रत्-अवस्था स्वप्न-रूप या भ्रमरूप निश्चय नहीं होती। हाँ, यदि, ऐसा मान लें कि

उसे स्वप्नावस्था में यह याद आ जाय कि वह उस अवस्था से भिन्न था, तो जरूर वह अवस्था भ्रममात्र निश्चय होती, किंतु संकल्प की विचित्र शक्ति से उसे ऐसा अन्तर भान नहीं होता। इसलिये भ्रम की सत्यता को वह स्वीकार नहीं करता।

(३९) ब्रह्मविद्या में यह भी सिद्ध हुआ है कि अवस्था-संकल्प या प्रतिबिंब के परिवर्तन से मूल-संकल्प या बिंब बदल नहीं जाता, किंतु मूल-संकल्प या बिंब के बदलने से अवस्था-संकल्प या प्रतिबिंब का बदलना जरूरी है। इसी विचित्र भेद के कारण स्वप्नावस्था में बाह्य संसार नष्ट या परिवर्तित नहीं होता, किंतु बाह्य संसार के परिवर्तन से स्वप्न-संसार बदल जाता और नष्ट हो जाता है। यही कारण है कि सोए मनुष्य को जब जगाया जाता है, तो स्वप्न-अवस्था से जाग्रत्-अवस्था में आ जाता है, और स्वप्न-संसार जाता रहता है। और, जब फिर स्वप्न में जाता है, तो नवीन संसार उत्पन्न होता है। और बाह्य संसार या जाग्रत्-प्रपंच ज्यों-का-त्यों एक रहता है।

(४०) भगवत्-ज्ञान के इस प्रकार के गुह्य रहस्य ब्रह्मविद्या के बृहत् संस्कृत-ग्रंथों में दर्ज हैं। हमने उनमें से कुछ रहस्य, जो इस स्थान पर उचित समझे, संकेत-पूर्वक दर्शाये हैं। जिसको अधिक जरूरत हो, वह बृहत् संस्कृत-ग्रंथों से ढूँढ़ ले। इन रहस्यों के वर्णन से आशय यह है कि क्या जाग्रत्-जगत् और क्या स्वप्न-संसार दोनों भगवत्-ज्ञान के संकल्प व तरंग हैं। किंतु पूर्वोक्त विशेष रहस्यों में से कुछ में सत्य या असली और कुछ

में असत्य या नक़ली का भ्रम या अनुमान होता है। विचार-दृष्टि से समस्त (नाम-रूप) भ्रममात्र या ख़्यालमात्र है। भगवत्-ज्ञान के सिवा कुछ भी विद्यमान नहीं। जो कुछ दीखता है, ज्ञानाकृतियाँ हैं। और ज्ञानाकृतियाँ ठीक ज्ञानस्वरूप हैं। अतः सृष्टि ठीक स्रष्टा और स्रष्टा ठीक सृष्टि है।

(४१) उक्त विवेचना वा तर्क का मंतव्य यह है कि भगवत्-ज्ञान एक अकेला विद्यमान है और समस्त (नाम-रूप) ज्ञानाकृतियाँ हैं। अतः भगवत्-ज्ञान की दो अवस्थाएँ या दो विभूतियाँ हैं। एक वह है, जिसमें ज्ञानाकृतियाँ तरंगायित व रूपवान् होती हैं, और दूसरी वह है कि जिसमें समस्त आकृतियों का अभाव हो जाता है। अतः पहली विभूति को सगुण अवस्था कहते हैं, और दूसरी को निर्गुण। जब ज्ञानवान् जगत् में नाम-रूप संसार या प्रत्यक्ष संसार को देखता है, तो सगुण ब्रह्म का दर्शन करता है। और, जब नेत्र बंद करके समाधि में भगवत्-ज्ञान को समस्त आकृतियों के लोप होने पर देखता है, तब निर्गुण का साक्षात् करता है। ऐसे ज्ञानवान् को प्रत्येक दशा में भगवत्-दर्शन प्राप्त है। और, यह उच्च भूमिका ज्ञानवानों की है।

(४२) अब तुम भी सृष्टि को देखते हुए सगुण ब्रह्म को देखो, और समाधि में समस्त प्रपंच के लोप होने पर भगवत्-ज्ञान को देखते हुए निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करो। यह कदापि भ्रम न करो कि प्रत्यक्ष जगत् सत् या ब्रह्म से इतर है, क्योंकि

यह अज्ञानियों या मूर्खों का कथन है। प्रत्येक अवस्था में उक्त दर्शन या अनुभव से मस्त रहो। अतः तुम भी अब उच्च कोटि के ज्ञानवान् हो गए हो। अब मैं इस उपदेश को समाप्त करता हूँ। ईश्वर ने चाहा, तो कल चौथा उपदेश आरंभ करूँगा।

ॐ इति।

उपदेश चौथा

(१) ऐ प्यारो ! पिछले उपदेश में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की भूमिका को, जो ज्ञानवानों की उच्च भूमिका है, दर्शाया है। किंतु इन भूमिकाओं में, जो पिछले उपदेशों में वर्णन हुई हैं, ब्रह्म का ज्ञान ब्रह्म-रूप या ज्ञान-रूप से हुआ है, अभी तक आत्म-रूप से ब्रह्म का ज्ञान नहीं हुआ। और, इस चौथे उपदेश में इस भूमिका का भी अनुभव होगा।

(२) यह स्पष्ट है कि गत उपदेश के कारण तुम अति उच्च कोटि की एकता को पहुँचे हुए हो, और तुम ब्रह्मसमीपवर्ती देवता के तुल्य हो गये हो। और तुम्हें यह भी ज्ञान हो गया है कि भगवत्-ज्ञान से इतर कुछ भी विद्यमान नहीं, जो कुछ दिखाई देता है, एक अकेला ज्ञान ही ज्ञानाकृतियों में दिखाई देता है। इससे भगवत्-ज्ञान की महिमा और बड़ाई तुम्हारे दिलों पर छा गई है, और तुम ब्रह्मसमीपवर्तियों के इतने उच्च दर्जे पर पहुँचे हुए हो, जिससे ईश्वर के मंत्री-पद का दर्जा तुमको प्राप्त हो गया है।

(३) ईश्वरीय रहस्य व दैवी भेद, जो पूर्व उपदेशों से मालूम हुए हैं, वे सम्राट् के रहस्य-विशेष हैं, जो मंत्री-पद प्राप्त किये बिना मालूम नहीं होते। रसूल या हरकारे लोग उससे परिचित

नहीं हो सकते। अतः हरकारे लोगों का कथन उसी क़दर होता है, जिस क़दर उनकी बुद्धि, पुरुषार्थ और पदवी होती है। जो लोग रसूल या हरकारों के कथन पर विश्वास करके उन रहस्य-विशेषों को स्वीकार नहीं करते, उनका उदाहरण उन ग्रामीणों के तुल्य है, जो मुख्य मंत्री से नहीं मिलते, वरन् तहसील के एक साधारण चपरासी से कुछ राजकीय सूचनाओं को सुनकर भयभीत रहते हैं।

(४) मंत्री-पद की पदवी यद्यपि अति उच्च पदवी है, क्योंकि मंत्री सम्राट् का मुख्य सलाहकार होता है। किंतु सर्वसाधारण या हरकारे लोगों की अपेक्षा उसे अधिक भय होता है, क्योंकि वह सम्राट् के वैभव और प्रभुत्व को वास्तव में जानता है। इसी प्रकार जब ज्ञानवान् इस पदवी पर पहुँचता है, तो भगवत्-ज्ञान की समीपता के कारण अधिक बड़प्पन और भय में पड़ जाता है।

(५) चूँकि भय भी ज्ञानवानों की दृष्टि में एक त्रुटि है, इसलिये भगवत्-ज्ञान के अति समीपवर्ती स्थान (मुख्य मंत्री की पदवी) से भी आगे उन्नति करना उचित होता है। वेद की श्रुति कहती है कि भय दूसरे से होता है। तात्पर्य श्रुति का यह कि मनुष्य को चाहे भगवत्-दर्शन हो जायँ, परंतु जब तक वह अपने आपसे उसे (भगवत्-ज्ञान या ईश्वर-परमात्मा को) भिन्न जानता है, भयभीत रहता है। देखो, ज्ञानवान् जब इस पद तक पहुँचे हैं, उनमें भय ने कैसा प्रभाव डाला है। ऐसे ज्ञानवानों के कथन या जीवन-

कथाओं से मालूम होता है कि वे सदैव भयभीत और कम्पायमान् रहते थे। कुछ ने तो भय के कारण इतनी तपस्या और तितिक्षा की कि उनकी देह लकड़ी के समान सूख गई और वे घर-बार छोड़कर जंगल व वन में रहने लगे। ऋषि-मुनियों तथा नबी-पैगंबरों के इतिहास से यह दशा बहुत स्पष्ट प्रत्यक्ष होती है।

(६) श्रुति का अभिप्राय यह है कि अपने आपसे किसी को भय नहीं होता, चाहे वह पूर्ण प्रभुत्व या वैभव से युक्त ही हो। देखो, महान् और शक्तिशाली सम्राट् अपनी महिमा तथा तेज से अति प्रसन्न-चित्त होता है, किंतु उसके ओहदेदार चाहे कितनी ही उच्च-से-उच्च पदवी पर पहुँचे हों, भयभीत और कंपायमान रहते हैं, बल्कि पदवी जिस क़दर ऊँची होती है, उसी क़दर अधिक भय होता है। अतः ज्ञानवान् को भी जब तक ब्रह्म का ज्ञान आत्म-रूप से नहीं होता, अर्थात् जब तक वह अपने आपको ब्रह्म नहीं जान लेता, तब तक अभयपद को नहीं प्राप्त होता। इसलिये यह पद ज्ञानवान् की अत्यंत उच्च कोटि का है, जिससे वह नितांत स्वच्छंदता और नित्य-आनंद को प्राप्त होता है।

(७) जो ऋषि, मुनि, नबी और औलिया (सिद्ध) पुरुष उक्त (मंत्री आदि) पदों में ही रहे और इस पद-विशेष (ब्रह्म आत्म-स्वरूप है) तक उनकी उन्नति नहीं हुई, वह नित्य महान् भय को प्राप्त रहे, और उन्हें अत्यंत हानि पहुँची है। इसलिये कृपालु श्रुति इस (मंत्री आदि) पद से उपराम कराती है, और शीघ्र

चाहती है कि इस अभय पद में तुम पहुँच जाओ। और यह विना ब्रह्म-आत्म-रूप के ज्ञान के नहीं होता। इसलिये इस उपदेश में हम इस पद पर, जो अति उत्तम भूमिका है, संकेत करते हैं, ध्यान देकर सुनो।

(८) पहले उपदेशों में हम सिद्ध कर चुके हैं कि भगवत्-ज्ञान ही ईश्वर-परमात्मा है, और यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि भगवत्-ज्ञान से इतर कुछ भी विद्यमान नहीं है, और तुम भी उस समस्त के भीतर हो, इसलिये तुम भी भगवत्-ज्ञान या ईश्वर-परमात्मा हो। यदि तुम अपने आपको ज्ञान नहीं जानते, तो वास्तव में यह भी तुम्हें पता नहीं कि समस्त एक भगवत्-ज्ञान या ईश्वर-परमात्मा ही है, वरन् तुम भगवत् की एकता में इनकारी हो और यह नास्तिकता है।

(९) यद्यपि इस रीति से तुमको निश्चय हो सकता है कि तुम भगवत् से भिन्न नहीं, क्योंकि जब समस्त (नाम-रूप) ज्ञानाकृतियाँ हैं, और ज्ञानाकृतियाँ भगवत्-ज्ञान से भिन्न नहीं होतीं, तो तुम भी एक विशेष मानवीय आकृति ज्ञानमात्र हो। तथापि यह रीति तुमको अभय-पद नहीं प्राप्त करा सकती। इसलिये कि ज्ञानाकृतियाँ भगवत्-ज्ञान में कल्पित होती हैं, और जो कल्पित होता है, यद्यपि अपने अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता, तो भी नाशवान् और अनात्म अर्थात् एक प्रकार से भिन्न होता है।

(१०) ब्रह्म-विद्या में यह निश्चय हुआ है कि कल्पित अपने

अधिष्ठान से एक नहीं हो सकता, क्योंकि कल्पित का अस्तित्व अधिष्ठान के अस्तित्व से वस्तुतः अन्य नहीं, वरन् अभिन्न है; तो भी वह कल्पित अस्तित्व अपने अधिष्ठान में नाशवान् हो जाता है, इसलिये वह एक नहीं हो सकता। संस्कृत-भाषा में मिले हुए को अभिन्न या अभेद और अद्वैत को एक बोलते हैं।

(११) भारतवर्ष के ब्रह्मवेत्ता यह कहते हैं कि जिस वस्तु का गुमान दूसरी वस्तु पर हो, वह अभिन्न होती है। जैसे कपड़ा लाल है या घड़ा काला है, ऐसा मान लेने पर लालिमा का कपड़े पर गुमान है और कालिमा का घड़े पर। लालिमा वास्तव में कपड़े के कारण और कालिमा वास्तव में घड़े के कारण स्थित है, बिना कपड़े व घड़े के अस्तित्व के उनका अन्य अस्तित्व नहीं, इसलिये एक अधिष्ठान रूप अस्तित्व की दृष्टि से वे अभिन्न तो हैं, तो भी वास्तविक या स्वरूप की दृष्टि से वे भिन्न हैं, क्योंकि जिस प्रकार उपर्युक्त मान लेने पर (विशेषणों के) भाव का गुमान होता है, उसी प्रकार जब उक्त विशेषण (लालिमा, कालिमा) उन (कपड़े, घड़े) में से दूर हो जाते हैं, तो उनके अभाव का भी गुमान होता है। जैसे जब कपड़े की लालिमा दूर होती है या घड़े की कालिमा का अभाव होता है, तो "कपड़ा लाल नहीं" और "घड़ा काला नही" ऐसे अभाव का अनुमान होता है। इस कारण गुण व विशेषण एक प्रकार से (अपने अधिष्ठान से) भिन्न होते हैं।

(१२) ब्रह्मविद्या में 'एक' की परिभाषा यह की गई है कि

जिस वस्तु पर भाव या अभाव का अनुमान न हो, वही एक होता है। जैसे यदि कोई माने कि घड़ा घड़ा है या कपड़ा कपड़ा है, तो यह भाव का अनुमान तो है, किंतु व्यर्थ है। वैसे ही अगर कोई माने कि घड़ा घड़ा नहीं या कपड़ा कपड़ा नहीं, तो अभाव का अनुमान तो है, किंतु व्यर्थ है। और ऐसे माननेवाले को पागल कहेंगे। इससे स्पष्ट हुआ कि एक ही वस्तु का उसी वस्तु पर भाव या अभाव का अनुमान नहीं होता। और, जिस वस्तु पर भाव या अभाव का अनुमान न हो सके, उसको एक कहते हैं।

(१३) जिस तरह 'अभिन्नता' या 'एकता' के गूढ़ विषय की परिभाषा है, उसी तरह 'भिन्न' की परिभाषा भी ब्रह्मविद्या में की गई है। और वह यह है कि जब एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भाव का अनुमान न हो सके, वरन् अभाव का अनुमान हो सके, तो वह वस्तु उस वस्तु से भिन्न होती है। जैसे कपड़ा घड़ा है ऐसा अनुमान नहीं हो सकता, वरन् कपड़ा घड़ा नहीं या घड़ा कपड़ा नहीं, यही अनुमान होता है। तो कपड़ा घड़े से भिन्न कहलाता है।

(१४) अब विदित हो कि ब्रह्मविद्या में तीन शब्द हैं—एकता, अभेदता और भेदता। उक्त परिभाषा के अनुसार घड़े की अपने स्वरूप में एकता है और लालिमा या कालिमा की एकता घड़े के अपने स्वरूप में नहीं, वरन् अभेदता है। और, घड़े तथा कपड़े में परस्पर न एकता है न अभेदता, वरन् भेदता है।

(१५) गत उपदेश में जो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का सिद्धांत सिद्ध किया गया है, उससे सबकी अभेदता भगवत्-ज्ञान में दर्शाई गई है, क्योंकि समस्त पदार्थ ज्ञानाकृतियाँ और भगवत्-ज्ञान की कल्पनाएँ हैं। इस रीति से वे सब भगवत्-ज्ञान से अभिन्न तो हैं, तो भी एक स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि जब उन ज्ञानाकृतियों का अभाव भगवत्-ज्ञान से हो जाता है, तो उस समय अभाव का अनुमान होता है। और, जब यह ज्ञानाकृतियाँ भगवत्-ज्ञान में उत्पन्न होती हैं, तो उन पर भाव का अनुमान होता है कि ज्ञानाकृतियाँ ठीक ज्ञान-स्वरूप हैं।

(१६) यह स्पष्ट है कि मानवीय आकृति अर्थात् तुम्हारी आकृति भी प्रत्यक्ष पदार्थ या ज्ञानाकृतियों के अन्तर्गत है, और वह भी वास्तव में ज्ञानाकृति है। इस कारण तुम भी भगवत्-ज्ञान या ईश्वर-परमात्मा से अभिन्न हो, किंतु एक नहीं हो। जिस तरह प्रत्यक्ष पदार्थों का अभाव होता है, उसी तरह तुम्हारी आकृति का भी अभाव होता है। और यह पहचान जो पिछले उपदेश से होती है, यद्यपि उच्च कोटि की है, तथापि अपने अभय-पद की कोटि की नहीं, वरन् अति भय का स्थान है।

(१७) जब ज्ञानवान् इस स्थान पर पहुँचता है, तो उसकी एक विचित्र दशा होती है, क्योंकि इस स्थान के ऊपर-नीचे या आगे-पीछे के अगणित व विभिन्न दर्जे हैं। इस दर्जे व पद में उनकी अवस्था भिन्न-भिन्न होती है। चूँकि हमारे ब्रह्मवेत्ता इस

स्थान को पसंद नहीं करते, इसलिये इन सब दर्जों व दशाओं की व्याख्या करने में ऐसे ज्ञानवान् के संबंध में अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं समझते, परंतु चूँकि यह भी एक उच्च कोटि ज्ञानवानों की है, इसलिये हम इसके आरंभ व अंत के पद पर संकेत करते हैं।

(१८) जब इस स्थान पर ज्ञानवान् पहले पहुँचता है, तो वह अपने आपको कि मानवीय आकृति केवल ज्ञान-आकृति है, इस प्रकार से भगवत्-ज्ञान में जानता है, तो निश्चय करता है कि ज्ञानाकृति हर प्रकार से ज्ञानाधीन है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि ज्ञानाकृति सर्व प्रकार से ज्ञानाधीन होती है, जिस तरह भगवत्-ज्ञान उसको प्रेरता है, उसी तरह वह चलती है, और जिस तरह वह चाहता है, उसको बदलता है। अतः इस कोटि का ज्ञानवान् अपने आपको भगवत् के हाथ में नितांत विवश देखता है और अपनी चेष्टाओं को भगवत्-चेष्टा मानता है। जब वह इस पद पर पहुँचता है, तो अपने उत्साह व संकल्प से कुछ नहीं करता, वरन् जो कुछ उससे हो जाता है, उसे भगवत् या भगवत्-ज्ञान से हुआ निश्चय करता है। और, अपने संकल्प को आदि संकल्प में उसी तरह विवश देखता है, जिस तरह बकरी शेर के पंजों में होती है। वरन् इस पद की अंतिम दशा यह होती है कि जिस तरह मृतक जीवित के हाथ में होता है, उसी तरह वह अपने आपको भगवत् के पंजे में देखता है। और स्पष्ट है कि शेर के पंजे में बकरी की क्या दशा होती

है। इसी तरह उसकी प्रत्येक पद में एक विचित्र दशा होती है।

(१९) अंतिम पद या दर्जा इस कोटि का यह है कि ज्ञानवान् को विवेचना करते-करते यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञानाकृति भगवत्-ज्ञान के कारण से ही स्थित है। और विचार की दृष्टि से गुण या आकृति का अपना अस्तित्व नहीं, वरन् अधिष्ठान का अस्तित्व उसमें आरोपित होता है। जैसे जल के बुद्बुदे में असल अस्तित्व तो जल का होता है और बुद्बुदे का अपना अस्तित्व कुछ भी नहीं, तो भी बुद्बुदे के रूप में जल का अस्तित्व आरोपित होता है। वैसे ज्ञानाकृतियाँ, जो ज्ञान में उत्पन्न होती हैं, अभाव-मात्र हैं, किंतु भगवत्-ज्ञान का अस्तित्व उनमें आरोपित दिखाई देता है। विचार की दृष्टि से अस्तित्व की गंध तक भी उनमें प्रविष्ट नहीं हुई। और प्रत्यक्ष पदार्थ सिद्ध हो चुके हैं कि वे ज्ञानाकृतियाँ हैं। और तुम्हारी भौतिक आकृति भी उनके अंतर्गत है। अतः अस्तित्व वास्तव में इस आकृति में प्रविष्ट नहीं हुआ, इसलिये अभाव-मात्र है। जैसा सर्प-भ्रम के समय रज्जु में कल्पित सर्प की आकृति अभावरूप होते हुए भी प्रतीत होती है, वास्तविक दृष्टि से सर्प की आकृति में अस्तित्व प्रविष्ट नहीं हुआ; तो भी रज्जु का अस्तित्व सर्प के अस्तित्व में आरोपित दीखता है। और इस कोटि पर पहुँचा हुआ ज्ञानवान् इस कारण से अपने आपको अभाव-मात्र और भगवत्-ज्ञान को अस्तित्व-मात्र मानता जीवित होते हुए मृतक होता है। इसी कारण कुछ सूफ़ी

लोगों ने इस कोटि का नाम "फ़िना-फ़िल्लाह" और "बक़ा-बिल्लाह" रक्खा है, क्योंकि वास्तविक स्वरूप में ज्ञानवान् अपने आपको नष्ट व अभाव-मात्र (फ़नाह) समझता है। और ईश्वरस्वरूप के कारण अपने आपको भाव रूप या स्थित (बाक़ी) देखता है।

(२०) यद्यपि इस कारण से कि उसे सत् (भाव-रूप) और असत् (अभाव-रूप) में पूर्ण विवेक हुआ है, यह उच्च कोटि है, तो भी चूँकि वह अपने स्वरूप में अभाव का भ्रम कल्पित करता है, इसलिये भूल करता है, क्योंकि (इस रीति से) जीवित मृतक होता है। और, मृत्यु का भय स्पष्ट है। और वह इस दशा में जीवित ही मृतक हो गया है, इसलिये वह अभय-पद या नित्यानंद में पहुँचा हुआ नहीं होता। अतएव हमारे ब्रह्मवेत्ता इस कोटि को पसंद नहीं करते।

(२१) भारत के ब्रह्मवेत्ता यह कहते हैं कि ज्ञानवान् को इस स्थान पर इस कारण भूल होती है कि वह अन्वय-व्यतिरेक के नियम को नहीं जानता। यदि वह इस नियम के अनुसार अपने स्वरूप का विवेचन करता, तो उसे ब्रह्म-आत्म-स्वरूप का बोध हो जाता, और मृतक न हो जाता, क्योंकि भगवत्-ज्ञान चेतन स्वरूप वा जीवन स्वरूप है, उस पर मृत्यु का लगाव या वास्ता नहीं। और चूँकि एकता का अनुभव हो जाता है, अभय-पद को प्राप्त हो जाता है।

(२२) और एक बात यह भी है कि जब ज्ञानवान् इस (मंत्री पदवाली) कोटि पर पहुँच जाता है, तो इस कोटि को

ज्ञान की अत्यंत उच्च कोटि समझता है, और इसलिये इस कोटि से अत्यंत कठिनता से आगे बढ़ता है। लेखक, अर्थात् आत्मदर्शी बाबा नगीनासिंह बेदी, भी इस कोटि में दस वर्ष तक उलझन में रहा। भगवत्-कृपा, जो नित्य प्राप्त थी, उपनिषदों के विचार और अध्ययन से इस भ्रमात्मक कोटि से निकला। अतएव अब हम इस अन्वय-व्यतिरेक के नियम को वर्णन करते हैं, जिससे ज्ञानवान् को सत्य-स्वरूप प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, और उस उलझन से छुटकारा मिल जाता है।

(२३) ब्रह्मविद्या के आचार्य कहते हैं कि जब ज्ञानवान् का अपना आत्मा वा स्वरूप भेद-भाव से ऐसा रहित हो कि उसमें भेदता या अंतर किंचित् न मालूम हो, तो उसे अपनी प्रत्येक विभिन्न दशा में यह देखना चाहिए कि किन अवस्थाओं का भिन्न-भिन्न दशा में अभाव होता है। अतः जो अवस्थाएँ किसी दशा में अभाव को प्राप्त हो जायँ, वह वास्तव में अनात्मा होंगी। और, जो वस्तु अपनी प्रत्येक दशा में स्थिर व स्थिति रहे, वही वस्तु आत्मा या अपना असली स्वरूप होगी। और यही नियम अन्वय-व्यतिरेक कहलाता है। देखो, एक लोहे का गोला जब आग से अत्यंत लाल किया जाता है, तो लोहे और आग के तत्त्व का ऐसा मेल-मिलाप होता है कि देखने में उसका विवेक नहीं हो सकता। वरन् उनमें अभेदता का एक संबंध हो जाता है, जिसे तादात्म्य-अध्यास कहते हैं।

(२४) हम ऊपर लिख चुके हैं कि जब एक वस्तु पर

दूसरी वस्तु का अनुमान हो, तो उनमें अभेदता का संबंध होता है। और स्पष्ट है कि लोहा आग है या आग लोहा है, यह अनुमान उचित नहीं, किंतु तो भी उक्त दशा में जब वह लोहा आग से अत्यंत लाल किया जाता है, तो लोहा आग है, ऐसा अनुमान होता है, और यही तादात्म्य-अध्यास है।

(२५) इसी तरह भगवत्-ज्ञान की विचित्र शक्तियों के कारण तुमको अपने आत्मा (स्वरूप) और भौतिक शरीर (देह) में अभेदता का संबंध या तादात्म्य-अध्यास प्राप्त है, और इसी कारण से तुम अपने आत्मा का इस आकृति-विशेष से विवेक नहीं कर सकते, वरन् जिस तरह आग का गुण लोहे के तत्त्व में और लोहे का गुण आग के स्वरूप में आरोपित होता है, उसी तरह आकृति-विशेष के गुणों का मनुष्य की आत्मा (स्वरूप) में और मनुष्य की आत्मा (स्वरूप) का आकृति-विशेष में आरोपण या समर्पण होता है।

(२६) जलाना और तेज आग का गुण है, लोहे का नहीं। इसी तरह गोलाई लोहे का गुण है, आग का नहीं, तो भी उक्त तादात्म्य-अध्यास या अभेदता के कारण लोहा जलाता है, या आग गोलाकार है, ऐसा अनुमान या निश्चय होता है। तो स्पष्ट है कि एक के गुण दूसरे में और दूसरे के पहले में दिखाई देते हैं। इसी तरह उत्पत्ति व नाश और उगना-बढ़ना आकृति-विशेष का गुण है और तेज व प्रकाश तथा जानना भगवत्-ज्ञान या मनुष्य के आत्मा का धर्म है, किंतु तादात्म्य-अध्यास के

कारण उत्पत्ति, नाश और उगने-बढ़ने को मनुष्य अपने आत्मा में आरोपण करता है, और तेज व प्रकाश और जानना जो आत्मा या अपने स्वरूप का धर्म है, उसको अपनी भौतिक आकृति में अनुमान करता है। सुतरां, मनुष्य की आत्मा और मानवीय आकृति में ऐसी गहरी मिलावट उत्पन्न हुई है, जिसका विवेक उक्त उदाहरण की अपेक्षा अति कठिन है। आत्मा या स्वरूप के विवेक के लिये अन्वय-व्यतिरेक की जरूरत है। पहले हम उदाहरण से वह नियम दिखलाते हैं और फिर दार्ष्टान्त में उसी नियम को घटायेंगे।

(२७) आग से लाल गोले की दो दशायें हैं; एक दशा उसकी आग से जलती हुई है, और दूसरी दशा उसकी उसका शीतल होना है। अब हम दिखाना चाहते हैं कि अन्वय-व्यतिरेक के नियम से किस वस्तु का अभाव और किस वस्तु का भाव हर दो दशा में है। अतः जिसका भाव हर दो दशा में हो, वही उक्त गोले का स्वरूप या आत्मा है। और, जिसका किसी दशा में अभाव या विनाश हो, वह गोले का स्वरूप या आत्मा नहीं, वरन् उसके स्वरूप में आरोपित है।

(२८) यह स्पष्ट है कि उक्त गोले की पहली अर्थात् जलती हुई दशा में अग्नि और लोहा हर दो के स्वरूप का भाव है, किसी का अभाव नहीं। किंतु दूसरी दशा में जब गोला शीतल हो जाता है, तो लोहे के स्वरूप का भाव होता है और आग के स्वरूप का अभाव। अतः सिद्ध होता है कि गोले का आत्मा या

स्वरूप वास्तव में लोहा है, अग्नि नहीं, क्योंकि दूसरी दशा में अग्नि का स्वरूप उसमें से अभाव हो जाता है; और फिर यह भी जाना जाता है कि पहली दशा में अग्नि का स्वरूप उसमें आरोपित था।

(२९) अब हम उस नियम को दार्ष्टान्त में घटाते हैं। विदित हो कि मनुष्य में चार अवस्थायें हैं। तीन तो स्वाभाविक हैं और चौथी स्वाभाविक नहीं, वरन् ज्ञान की है, और अभ्यास द्वारा प्राप्तव्य है। पहली तीन स्वाभाविक अवस्थाएँ ये हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। ये स्वभाव से ही सर्व-साधारण को प्राप्त हैं, किंतु चौथी अवस्था प्रत्येक को प्राप्त नहीं होती, केवल ब्रह्म-विद्या के अभ्यासी को होती है, जिस पर तीसरे उपदेश की अठारहवीं दफ़ा में संकेत किया गया है, अब दुबारा वर्णन की आवश्यकता नहीं। चूँकि इन तीन स्वाभाविक अवस्थाओं से वह अलग (चौथी) अवस्था-विशेष ज्ञानवानों और तत्त्ववेत्ताओं की है, इसलिये उसे संस्कृत में तुरीय कहते हैं, क्योंकि संस्कृत-कोष में तुरीय चौथे को कहते हैं।

(३०) यदि उक्त चारों अवस्थाओं में अन्वय-व्यतिरेक के नियम से आत्मा की विवेचना की जाय, तो केवल भगवत्-ज्ञान आत्मा सिद्ध होते हैं, क्योंकि जिस वस्तु का ज्ञान न रहे अर्थात् जो वस्तु ज्ञात न रहे, यद्यपि वह अपने स्वरूप में विद्यमान हो, तो भी उसकी दृष्टि से जिसे उसका ज्ञान नहीं अर्थात् जिसको वह अज्ञात है, अभाव को प्राप्त हुई होती है। जैसे मान लो,

अनेक वस्तुएँ हैं, जो जगत् में विद्यमान हैं, और अभी तक मनुष्य को उनकी सूचना नहीं हुई, इसलिये उस मनुष्य की दृष्टि से वे देखने में अभाव-रूप हैं। इसी तरह उक्त भिन्न-भिन्न स्वाभाविक अवस्थाएँ, जो मनुष्य में रचित हैं, यद्यपि मृत्यु के बाद उनका अभाव होगा, परंतु तो भी जिन अवस्थाओं का उसको ज्ञान न रहे, वे भी उसकी दृष्टि में अभाव-स्वरूप होती हैं। और मृत्यु में उनका अभाव ईश्वरीय रीति से प्राप्त होगा।

(३१) देखो, मनुष्य जब स्वप्न में जाता है, तो अपनी बाह्य (जाग्रत् की) शारीरिक आकृति से अज्ञात-मात्र होता है। इसी कारण बाह्य (जाग्रत् के) शरीर की दृष्टि से उसे सोया हुआ कहते हैं। परंतु स्वप्न में उसके ज्ञान की विचित्र कल्पनाओं में एक स्वप्न-संसार उत्पन्न हो जाता है, और इस बाह्य (जाग्रत् की) आकृति के समान एक कल्पित (स्वप्न की) आकृति भी उसमें उत्पन्न होती है। और, मनुष्य का ज्ञान या आत्मा इस स्वप्न-आकृति में उसी तरह संबंधित होता है, जैसा बाह्य (जाग्रत् की) आकृति में जाग्रत् के समय होता है, और वह स्वप्न-संसार में उसी तरह व्यवहार करता है, जिस तरह जाग्रत्-जगत् में करता था।

(३२) यह स्पष्ट है कि जाग्रत् में मनुष्य की जो भौतिक आकृति है, वह स्वप्नावस्था में उसकी दृष्टि से अभाव-रूप है। उसी तरह यह (स्वप्न की) बाह्य आकृति जो स्वप्न-काल में उसमें सिद्ध है, जाग्रत् में अभाव-रूप व लुप्त है, किंतु ज्ञान दोनों अवस्थाओं में सिद्ध है। अतः मालूम हुआ कि बाह्य (जाग्रत्

की) और ख़्याली (स्वप्न की) आकृतियाँ वास्तव में आरोपित व तुच्छ हैं, और ज्ञान या आत्मा, जो मनुष्य का असली स्वरूप है, अटल और प्रत्यक्ष है।

(३३) यद्यपि दोनों अवस्थाओं में दोनों आकृतियाँ परस्पर एक दूसरे में अभाव-रूप व लुप्त हैं, तो भी जाग्रत् में बाह्य (जाग्रत् की) आकृति और स्वप्न में कल्पित (स्वप्न की) आकृति दृढ़ व प्रत्यक्ष रहती है। सुषुप्ति-अवस्था में दोनों आकृतियाँ एक ही समय में अभाव-रूप व लुप्त होती हैं। इसलिये सुषुप्ति में पूर्ण रूप से निश्चय और विश्वास होता है कि भौतिक आकृति आत्मा या मनुष्य के स्वरूप से भिन्न है।

(३४) यदि यह आपत्ति हो कि जिस तरह बाह्य (जाग्रत् की) और कल्पित (स्वप्न की) आकृति लुप्त है, तो ज्ञान भी लुप्त होता है, अतः ज्ञान भी वास्तव में आत्मा नहीं। तो यह आपत्ति भी व्यर्थ या अनुचित है, क्योंकि सुषुप्ति-अवस्था में भगवत्-ज्ञान अज्ञान-मात्र से विशिष्ट होता अज्ञान का भान करता है। और, यही कारण है कि जाग्रत् समय मनुष्य इस बात का वर्णन करता है कि मैं बेख़बर या अज्ञानी हो गया था। और स्पष्ट है कि अगर सुषुप्ति में उसे अज्ञान का अनुभव न होता, तो यह वर्णन भी न होता, क्योंकि वर्णन ज्ञात वस्तु का होता है, और ज्ञान के विना मालूम (ज्ञात) होना कठिन है, इसलिये ज्ञान सुषुप्ति-अवस्था में भी सिद्ध होता है।

(३५) भारत के ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि भगवत्-ज्ञान जिस

तरह जाग्रत् में बाह्य आकृति या स्वप्न में कल्पित (स्वप्न की) आकृति से संबंधित होता हुआ उससे अभेद होता है, उसी तरह सुषुप्ति में केवल अज्ञान से संबंधित होता हुआ उससे यही अभेदता उत्पन्न कर लेता है। चूँकि अज्ञान का स्वरूप अंधकार-मात्र या आवरण-मात्र है, इसलिये अप्रत्यक्षता या आवरण (अज्ञान) ज्ञान में रहता है। इसलिये सर्व-साधारण लोग ज्ञान को भी लुप्त या अभाव-रूप ख़्याल करते हैं, किंतु जो लोग विचारवान् हैं, उनको इस प्रकार का भ्रम नहीं होता।

(३६) सुषुप्ति-अवस्था में जब मनुष्य जाता है, उसका ऐसा उदाहरण होता है, जैसा कोई ख़ाली वन में अकेला जाता है, और यह कहता है कि मैं ऐसे स्थान में गया, जहाँ कुछ भी न था, तो इस कथन से यह परिणाम निकलता है कि यद्यपि उस वन में कुछ नहीं था, तो भी कथनकर्त्ता उस स्थान में था, अन्यथा सबके अभाव का कथन कौन करता। इसी तरह सुषुप्ति में, जो सबका लोप होता है और उसका समर्थन या वर्णन होता है, स्पष्ट है कि ज्ञान वहाँ था, अन्यथा सबके लोप या अभाव का कथन कौन करता।

(३७) यह नहीं गुमान करना चाहिए कि अज्ञान का विशेषण या संबंध भगवत्-ज्ञान से कठिन या असंभव है, क्योंकि जानना व न जानना दोनों गुण भगवत्-ज्ञान के हैं, किंतु उस अवस्था में जब कि वस्तु उसमें प्रकट नहीं होती, अज्ञान का संबंध सिद्ध होता है। अतः भगवत्-ज्ञान वास्तव में अज्ञान का

विरोधी नहीं, वरन् जानने का संबंध अज्ञान के संबंध का विरोधी है। सुषुप्ति में भगवत्-ज्ञान या आत्मा केवल अज्ञान से विशिष्ट होता है, इसलिये वहाँ कुछ दिखाई नहीं देता, क्योंकि अज्ञान के संबंध से जानना जो अज्ञान का विरोधी है जाता रहता है, तो भी अज्ञान स्वयं उसमें प्रकट रहता है, और अज्ञान का जानना स्पष्ट या प्रत्यक्ष रहता है। इसी कारण सुषुप्ति में ज्ञान का होना सर्व प्रकार की युक्ति से सिद्ध है। और, यही कारण है कि मनुष्य सुषुप्ति में अपने अस्तित्व का इनकार नहीं कर सकता, क्योंकि वह वास्तव में भगवत्-ज्ञान है, और वह लुप्त नहीं होता। और, इसका पूर्ण प्रमाण मिरातुल्मार्फ़त* नाम की तीसरी ब्रह्मविद्या की पुस्तक में, जो हमने लिखी है, वहाँ सिद्ध होगा।

(३८) उपदेश पहले व दूसरे में पूर्ण (अकाट्य) युक्तियों से सिद्ध किया गया है कि ज्ञान कदापि नष्ट या लुप्त नहीं होता। सुषुप्ति में यदि (ज्ञान को) लुप्त या नष्ट मान लिया जाय, तो इन (उक्त) युक्तियों से मालूम होगा कि भगवत्-ज्ञान सुषुप्ति में लुप्त या नष्ट नहीं हुआ। और, यही सिद्ध करना था, अथवा यही उद्देश्य था।

(३९) तुरीयावस्था या चौथी दशा में अज्ञान और आकृति

---

* हमें यह दुःख से स्पष्ट करना पड़ता है कि अनेक यत्न करने पर भी यह तीसरी पुस्तक अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी। यदि किसी सज्जन को इसका पता हो, तो इसकी सूचना से अनुगृहीत करें।

दोनों का अभाव होता है। और ज्योतिषां-ज्योति रूप भगवत्-ज्ञान उस दशा में प्रत्यक्ष और अनुभूत होता है। जब मनुष्य अभ्यास व संयम से उस अवस्था में पहुँचता है, तो उस समय पूर्ण निश्चय होता है कि उस अवस्था में भगवत्-ज्ञान अज्ञान और आकृति से रहित होता है। उस समय निश्चयात्मक भावना से मनुष्य को सिद्ध होता है कि बाह्य (जाग्रत् की) आकृतियाँ तथा कल्पित (स्वप्न की) आकृतियाँ, और अज्ञान सब-के-सब भगवत्-ज्ञान में आरोपित हैं, क्योंकि उनमें से कुछ का किसी अवस्था में भाव है और किसी में अभाव है। तुरीयावस्था में सबका अभाव होता है। वहाँ भगवत्-ज्ञान से इतर कुछ शेष नहीं रहता।

(४०) चौथी अवस्था अर्थात् तुरीयावस्था आकृति के अभाव के कारण सुषुप्ति से बहुत ही मिलती-जुलती है, किंतु सुषुप्ति में अज्ञान का अंधकार भगवत्-ज्ञान में स्पष्ट होता है, इसलिये केवल अंधकार या बेख़बरी छाई होती है। और, तुरीयावस्था में अज्ञान के अंधकार का भी अभाव हो जाता है। इसलिये भगवत्-ज्ञान अपने स्वरूप में ज्योतिषां-ज्योति (प्रकाशों का प्रकाश) प्रत्यक्ष होता है। इस कारण वह सुषुप्ति-अवस्था के सदृश नहीं है।

(४१) जाग्रत् में जब नेत्र बंद करके मनुष्य पहले उपदेश के अनुसार भगवत्-ज्ञान या ईश्वर-परमात्मा का, जो कि मस्तिष्क में प्रकाशमान है, ध्यान करता है, और अभ्यास व भक्ति से

उस ध्यान में ऐसा लवलीन व ध्यान-स्थित होता है कि भगवत्-ज्ञान से इतर आकृति या ख़्याल या वृत्ति या संदेह को उसमें प्रवेश होने नहीं देता, वरन् सबसे बेख़बर (अज्ञात) हो जाता है, केवल ज्ञान से सावधान रहता है; तो जाग्रत्-अवस्था में सब पदार्थों की ओर से वह सोए के सदृश हो जाता है, और केवल भगवत्-ज्ञान की दृष्टि से वह जागता रहता है। ऐसी अवस्था को चौथी अवस्था कहते हैं। और, यह अवस्था अभ्यास व संयम के बाद प्राप्त होती है। और, भगवत्-ज्ञान से इतर उस समय उसे कुछ दिखाई नहीं देता, वरन् उस समय कर्त्ता (परिच्छिन्न 'मैं') का भाव जाता रहता है, तो भी 'मैं' के लक्ष्यार्थ वहाँ विद्यमान होते हैं, क्योंकि जब इस अवस्था से निकलता है, तो 'मैं' के लक्ष्यार्थ से वह इनकार नहीं कर सकता, और सिद्ध होता है कि ज्ञान से इतर वहाँ कुछ विद्यमान नहीं था। अतः 'मै' का अर्थ वास्तव में भगवत्-ज्ञान है, और यही मनुष्य का असली स्वरूप है। इस कारण मनुष्य वास्तव में भगवत्-ज्ञान है। पहले हम सिद्ध कर चुके हैं कि भगवत्-ज्ञान ही भगवत् है, अतः सिद्ध होता है कि तुम ही भगवत् अर्थात् ईश्वर-परमात्मा हो।

(४२) जब मालूम हुआ कि भगवत्-ज्ञान ही भगवत् है, और फिर यह भी मालूम हुआ कि तुम ही भगवत्-ज्ञान हो, इस विवेचना के समय महावाक्य सुनने का अवसर है। इसी कारण उपनिषदों में महावाक्य प्रत्यक्ष पुकारता है कि

'तत्त्वमसि' * —वह तुम ही हो, अर्थात् ऐ सुननेवालो ! आप ही भगवत् स्वरूप हो, भिन्न नहीं ।

(४३) जब इस प्रकार की विवेचना से महावाक्य को उपनिषदों में सुनता है, तो उस समय मनुष्य को 'अहं ब्रह्मास्मि' के लक्ष्यार्थ प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं । और, इस दशा में एक ऐसा आनन्द होता है, जिसका उदाहरण नहीं हो सकता । तो भी इतना कथन होता है कि जो वैभव व महिमा भगवत् की (बुद्धि द्वारा) जानता था, वह अपने स्वरूप में देखता है । और, प्रत्यक्ष है कि एक निर्धन या दरिद्री यदि सम्राट् का पद व मान और राज्य के सामान अपने में पाता है, तो कितना ही प्रसन्न होता है । इसके अतिरिक्त जो सम्राट् के वैभव का भय था, वह जाता रहता है । इसी कारण इस अवस्था को अभय-पद बोलते हैं । अतः ज्ञानवान् इस अवस्था में निर्भय और बेपरवाह (स्वच्छंद) विचरता है ।

(४४) जो लोग अभ्यास तथा संयम से वंचित हैं और चौथी अवस्था अर्थात् तुरीयावस्था उनको प्राप्त नहीं हुई है, महावाक्य के सुनने में उनको 'अहं ब्रह्मास्मि' के लक्ष्यार्थ संशय-रहित प्रत्यक्ष नहीं होते, वरन् नाना संशय व आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं । इसलिये अपने ईश्वरत्व में उनको इनकार रहता है, और उनकी सब आपत्तियाँ भगवत्-ज्ञान की एक विचित्र शक्ति जो विपरीत दिखाती है, उसके कारण से है, जिसको वह जानते नहीं ।

---

* देखो छान्दोग्य उप० प्रपाठक ६, खं० ९ मं० ४ ।

(४५) वह लोग यह कहते हैं कि भगवत् सर्वशक्तिमान् और सर्वस्रष्टा है, और हम पराधीन तथा निर्बल हैं, एक कीड़ी भी उत्पन्न नहीं कर सकते, और वह (भगवत्-ज्ञान) समस्त जगत् में व्यापक और विभु है, और हम देह में बद्ध हैं, हम कैसे भगवत् हो सकते हैं ? इस प्रकार की अनेक आपत्तियाँ करते हैं, जिनका अंत नहीं। और, उन सबका अलग-अलग उत्तर इन थोड़े-से पृष्ठों में देना कठिन या असंभव है। परंतु हम ज्ञान की उस शक्ति को, जिससे यह ख़्याल उनमें उत्पन्न होता है, वर्णन कर देते हैं। बुद्धिमान् उनकी कल्पित आपत्तियों को भले प्रकार समझ सकता और प्रत्येक का उत्तर दे सकता है।

(४६) भारत के ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि भगवत्-ज्ञान में एक विचित्र शक्ति उलटापन की है, जिसे संस्कृत में विपरीत अध्यास बोलते हैं, और वह शक्ति सदैव पदार्थों व घटनाओं को उलटा दर्शाती है। जैसे भगवत्-ज्ञान में समस्त संसार और मानुषी देह रक्खी हुई है, किंतु समस्त संसार में मानुषी देह और मानुषी देह में भगवत्-ज्ञान रक्खा हुआ दिखाई देता है, और इसी तरह मनुष्य वास्तव में भगवत्-ज्ञान है, परंतु वह अपने आपको देह समझता है; वैसे ही वह वास्तव में सर्वशक्तिमान् और सर्वस्रष्टा है, तो भी अपने आपको निर्बल और उत्पन्न पदार्थ समझता है।

(४७) भगवत्-ज्ञान में उलटेपन की यह शक्ति हमें स्वप्न-काल में प्रत्यक्ष मालूम होती है। क्योंकि यह स्वतः सिद्ध है

कि स्वप्न-प्रपंच केवल ज्ञानाकृतियाँ है, और हमारे ज्ञान में कल्पित है। इसलिये वह समस्त स्वप्न-संसार हमारे ज्ञान में रक्खा हुआ या उत्पन्न पदार्थवत् प्रकट है। तो भी उलटेपन की विचित्र शक्ति के कारण स्वप्न-काल में यह ख़्याल होता है कि यह जगत् किसने उत्पन्न किया। और, उसमें हमारा शरीर या हम भी उत्पन्न पदार्थ हैं। यह भी स्पष्ट है कि भगवत्-ज्ञान के अतिरिक्त स्वप्न-काल में कुछ विद्यमान नहीं, वरन् भगवत्-ज्ञान ही अपना आप है, तो भी मनुष्य की स्वप्न-आकृति जो उस समय हमारी बाह्य (जाग्रत् काल की) आकृति के सदृश उत्पन्न होती है, उसमें अहंता का ख़्याल होता है, और ख़्याली (स्वप्न के) देह के आने-जाने, कोमलपन और कठोर-पन का ख़्याल अपने आप में होता है। और, यह भी स्पष्ट है कि स्वप्न-प्रपंच हमारा ही ख़्यालमात्र है, और हमने ही अपने संकल्प से उत्पन्न किया है, किंतु उस समय ऐसा उलटा ख़्याल होता है कि हम एक कीड़ी भी उत्पन्न नहीं कर सकते। कल्पना करो कि किसी को यह स्वप्न हुआ कि "मैं प्यासा हूँ" और कुआँ तथा डोल भी है, पर रस्सी नहीं, उस समय रस्सी ढूँढ़ता है; यद्यपि कूप, प्यास और डोल इसी की अपनी कल्पना है, किंतु वह रस्सी की कल्पना उस समय नहीं कर सकता। इसी तरह यह समस्त जगत् यद्यपि तुम्हारा संकल्प या ख़्याल है, तो भी तुम कीड़ी नहीं उत्पन्न कर सकते। और, यह भगवत्-ज्ञान की विचित्र शक्ति या लीला है।

(४८) जब स्वप्नावस्था में यह उलटेपन की शक्ति भगवत्-ज्ञान में प्रत्यक्ष मालूम होती है, और हम सिद्ध कर चुके हैं कि जाग्रत्-अवस्था भी वास्तव में ज्ञानाकृतियाँ है, उसी शक्ति के कारण सर्व-साधारण को यह उलटे विचार उत्पन्न होते हैं। इसलिये वे अपने ईश्वरत्व से इनकार करते हैं।

(४९) भारत के ब्रह्मवेत्ता उलटे विचार के निवारण में यह कहते हैं कि विपरीत विचार से यह विचार बदल जाता है, क्योंकि जब विचार हम देवदत्त का करते हैं, तो देवदत्त का विचार उसके विपरीत विचार से जाता रहता है। इसी तरह जिसको महावाक्य से 'अहं ब्रह्मास्मि' के लक्ष्यार्थ स्पष्ट न हों, उसको चाहिए कि अपने विचारों के विपरीत 'अहं ब्रह्मास्मि' का विचार सदैव सम्मुख रक्खे और पूरा-पूरा उसका अभ्यास करे, तो ये (पहले) विचार दुर्बल व क्षीण हो जाते हैं।

(५०) इस प्रकार के विचारों को उपनिषदों में अहंग्रह उपासना लिखा है, और उसका विवरण उपनिषदों में सविस्तर दर्ज है। जिसको जरूरत हो, वहाँ से ढूँढ़ ले। अहंग्रह उपासना से ज्ञान में, जो उलटापन की शक्ति है, वह जब क्षीण हो जाती है, तो फिर महावाक्य के श्रवण पर 'अहं ब्रह्मास्मि' का प्रकाश या साक्षात्कार होता है। और पूर्वोक्त सर्व प्रकार के संदेह, जो ब्रह्मविद्या में सविस्तर वर्णित हैं, निवृत्त हो जाते हैं। जब तक संशय रहे, तब तक अन्य से श्रवण की हुई युक्तियों या अपने विचार से उत्पन्न युक्तियों को काम में लाकर सोचता रहे। इसको संस्कृत में मनन

कहते हैं। जब 'अहं ब्रह्मास्मि' के लक्ष्यार्थ संशय-विपर्यय-रहित प्रत्यक्ष हों, तो उसको दृढ़ और परिपक्क करे। इसको निदिध्यासन कहा करते हैं। उसके बाद उलटेपन की शक्ति दुर्बल व क्षीण हो जायगी, किंतु मृत्यु से पहले नितांत दूर नहीं होती।

(५१) श्रवण से केवल ज्ञान होता है। मनन से संशय दूर होते हैं, और अवस्था बदल जाती है। निदिध्यासन या हर समय 'अहं ब्रह्मास्मि' के लक्ष्यार्थ को सम्मुख रखने से उलटापन या विपर्यय दूर होता है। उस समय ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मात्म-स्वरूप को प्राप्त हुआ निरंतर विचरता है, और कर्म-बंधन से मुक्त हो जाता है।

(५२) यह नहीं ख़्याल करना चाहिए कि ज्ञानवान् को उलटापन या आकृतियाँ नितांत दिखाई नहीं देतीं, वरन् समस्त आकृतियों व उलटेपन के विचारों की दशा उसमें आभास के रूप में दिखाई देती हैं। जैसे दर्पण में अपना मुख उलटा तो दिखाई देता है, तो भी द्रष्टा उसको जैसा है, वैसा जानता है। अर्थात् मुख को वास्तव में पूर्व की ओर जानता है, यद्यपि दर्पण के उलटेपन के गुण से वह पश्चिम की ओर दिखाई देता है। इसी तरह संसार व शरीर उसकी दृष्टि में समस्त चित्रवत् या स्वप्न-संसार हो जाता है, और उसकी ओर उसका ध्यान नहीं होता। जैसा कि दर्पण में चित्र या आकृतियाँ दिखाई तो देती हैं, किंतु वह मिथ्या होती हैं। इसी तरह जगत् की आकृतियाँ उसके आत्म-दर्पण में मिथ्या हो जाती हैं, और आप ही

सबका दर्पण या प्रकट स्थान या प्रकट कर्त्ता होता है। यह ज्ञानवानों की अति उच्च कोटि है।

(५३) जब मालूम हुआ कि 'अहं ब्रह्मास्मि' का विचार यद्यपि विवेचना से प्राप्त न हो, तो एक प्रकार से जबरदस्ती से भी इसका अभ्यास उलटेपन की शक्ति को निवारण करता है। इसलिये न जानते हुए भी इसका अभ्यास जिज्ञासु के लिये आवश्यक है। और, जो लोग इस विचार से औरों को हटाते या स्वयं इनकार करते हैं, वे दुष्ट व्यक्ति और ज्ञान के मार्ग में बाधक हैं। उनके शब्दों पर कदापि विश्वास न करना चाहिए। और वे इस विश्वास को नास्तिकता तथा ईश्वरीय दात्रा वर्णन करते हैं। उनके वचन में गड़बड़ी है, और वह ईश्वर के स्वरूप से परिचित नहीं, अर्थात् उससे अनभिज्ञ हैं।

(५४) उनकी कुछ संप्रदायें यह मानती हैं कि वास्तव में यह ('अहं ब्रह्मास्मि' का महावाक्य) सत्य है, किंतु जब वह अवस्था प्राप्त हो, तो 'अहं ब्रह्मास्मि' कहना उचित है; परंतु जब तक ऐसी अवस्था प्राप्त न हो, तो 'अहं ब्रह्मास्मि' कहना उचित नहीं और नास्तिकता है। इनका मत भी नितांत ज्ञान-पथ में बाधक या भ्रम-मूलक है, क्योंकि उस अवस्था की प्राप्ति से पूर्व यह विश्वास व अभ्यास साधन व उपाय-रूप है। और, अवस्था प्राप्त होने पर यही फल-रूप है।

(५५) अज्ञानियों के इस प्रकार के विचारों ने समस्त संसार में विस्तार पा लिया है। जब किसी को इस (अहंग्रह)

उपासना की शिक्षा दी जाती है, तो वह तत्काल इनकार करता हुआ त्राहि-त्राहि (तोबा-तोबा) करता है। इसका कारण यही है कि उलटेपन की शक्ति का इनमें प्रभाव व अध्यास इतना भारी है कि वे ज्ञानवानों के वाक्य भी सुनना नहीं चाहते। इसलिये इन अवस्थाओं के वर्णन में हम अति विवश (लाचार) हैं।

(५६) प्राचीन काल में पहले रामानुज-संप्रदाय के लोगों ने इस अहंग्रह उपासना से इनकार किया, इस कारण से इस मतानुयाइयों ने इसमें अत्यंत घृणा दिखलाई। वास्तव में उलटेपन की शक्ति के प्रभाव से उनमें यह बात थी। उनके वचनों पर विश्वास करना अत्यंत बुरा है। वेद इस (अहंग्रह) उपासना की खुल्लमखुल्ला आज्ञा देता है, फिर उससे घृणा करना नाश व आत्महत्या का कारण है।

(५७) जो लोग इस अहंग्रह उपासना से इनकार करते हैं, उनके गुमान में ईश्वर-परमात्मा मनुष्य-तुल्य है, क्योंकि दीन मनुष्य अपने आपको महाराजा-समान या स्वयं महाराजा वर्णन करे, तो महाराजा उससे विरुद्ध होता और उसको दंड देता है। कदापि नहीं, कदापि नहीं। सबके ईश्वरत्व की असलियत का आत्मा इस प्रकार के ईर्षा-द्वेष से रहित है। यदि ऐसा होता, तो ज्ञानवान्, चूँकि निरंतर यह उपासना करते आए हैं, उनका पालन-पोषण आदि का द्वार क्यों न बंद हो जाता। इसके उत्तर में वे कहते हैं कि परमात्मा धैर्य-स्वभाव है, मृत्यु तक कुछ नहीं कहता। मृत्यु के बाद उसको दंड देगा। देखो, कैसी

विचित्र ख़ुदाई (ईश्वरता) है कि पाप देखता है और मृत्यु तक दंड देने में धैर्य करता है। निदान, इस प्रकार की युक्तियाँ अज्ञानियों की अनेक हैं। किंतु उनका दुर्भाग्य है, जो इस उत्तम ओषधि का अपने रोग में सेवन नहीं करते। उनका उदाहरण उन अज्ञानियों के समान है, जो ज्वर-अवस्था में कुनाइन के सेवन से इनकार करते हैं। देखो, ज्वर के निवारण में कुनाइन कितनी भारी प्रभावशाली है, तो भी जिन्होंने इसका सेवन नहीं किया, वह भयभीत रहते और कालांतर तक ज्वर से पीड़ित रहते हैं।

(५८) ऐ मित्रो ! अब तुमने जान लिया है कि भगवत्-ज्ञान भगवत् या ईश्वर-परमात्मा है, और फिर यह भी जान लिया है कि तुम स्वयं ज्ञान हो, अतः तुम ही भगवत् हो। अब तुम उन (विपरीत भावनावालों) के वचनों को ज्ञान-पथ का बाधक जानकर संशय-विपर्यय-रहित होकर 'अहं ब्रह्मास्मि' के लक्ष्यार्थ के ध्यान में महा आनंद को लूटो और तृप्ति को प्राप्त हो।

(५९) जब ज्ञानवान् इस अवस्था पर पहुँचता है, तो उसके कथन व स्तुति-गायन 'अहं ब्रह्मास्मि' के लक्ष्यार्थ के अनुसार हो जाते हैं। जैसे जिज्ञासु की पहली कोटि और अवस्था में "ईश्वर महान् है, शुद्ध, पवित्र और दयालु है" ऐसा वर्णन था, और अब इस कोटि या अवस्था में "कैसा महान्, पवित्र और दयालु मैं हूँ" इस प्रकार का कथन और स्तुति-गायन होता

है। देखो, हमारे ऋषि-मुनि इस अवस्था को प्राप्त होकर ऐसा कथन करते रहे हैं "मैं धन्य हूँ", "मैं शुद्ध हूँ", "मैं मुक्त हूँ", "मैं नित्य हूँ"। इस विषय में "तृप्ति दीप", "पञ्चदशी कारिका" इत्यादि देखो, तो तुमको मालूम हो जायगा कि जो इस अवस्था पर पहुँचे हैं, उनका कथन व स्तुति-गायन इसी प्रकार का था, वरन् अन्य मतावलंबी लोग, जब इस अवस्था पर पहुँचे हैं, उनसे भी अपने आप ऐसे वाक्य प्रकट हुए हैं। बायजीद बुस्तामी कहते थे कि "मैं कैसा शुद्ध और महान् हूँ, और कैसी मेरी महिमा है।" मंसूर की जो कुछ गति हुई, वह स्पष्ट है। अब तुम भी महिमा और बड़प्पन को जानते हुए उन्हीं में से हो जाओ, और अज्ञानियों के वचनों से भय मत करो। अब सायंकाल हो गया है, मैं इस उपदेश को समाप्त करता हूँ।

ॐ इति

उपदेश पाँचवाँ

(१) ऐ प्यारो ! तुम पर सिद्ध हो चुका है कि भगवत्-ज्ञान से इतर कुछ भी विद्यमान नहीं है, वरन् एक अकेली वस्तु भगवत्-ज्ञान ही है, और समस्त संसार उसमें ज्ञानाकृतियाँ अथवा कल्पित आकृतियाँ है।

(२) इससे यह नहीं गुमान करना चाहिए कि भगवत्-ज्ञान विकारवान् है, क्योंकि जब हम किसी वस्तु की कल्पना करते हैं, तो उस वस्तु की आकृति हमारे ज्ञान में विद्यमान हो जाती है; अतः ज्ञान ही बदलकर उस वस्तु की आकृति के तदाकार हो जाता है, अर्थात् भगवत्-ज्ञान ही विकारी होकर जगदाकार हो गया है। इस तरह ज्ञान यदि विकारवान् होता, तो नाशवान् और उत्पत्तिवाला भी हो जाता। परंतु ज्ञान उत्पत्ति और नाश से परे है, इसलिये विकारवान् भी नहीं।

(३) विज्ञानवादियों ने पहलेपहल यह सिद्ध किया था कि भगवत्-ज्ञान ही विकारी होकर सृष्टि के रूप में प्रकट हुआ है। और, यह नितांत झूठ या भ्रम-मूलक है।

(४) विज्ञानवादी को यह भूल या भ्रम इस कारण से हुआ कि उसको ज्ञान की सत्ता में संकल्प और प्रकाश का विवेक

नहीं हुआ था, वरन् संकल्प के परिणाम से प्रकाश के परिणाम का भ्रम होकर उसको ज्ञान विकारवान् मालूम हुआ था।

(५) भारतवर्ष के ब्रह्मवेत्ता जो ब्रह्मनिष्ठ और अनंत ज्ञान में निमग्न वा लीन थे, उन्होंने सिद्ध किया है कि एक संकल्प है, जो विकारवान् है, और एक प्रकाश या चेतन है, जो निर्विकारी है।

(६) ब्रह्मविद्या के आचार्यों का इस विषय में आशय यह है कि प्रकाश या चेतन निर्विकारी और स्वप्रकाश है, और संकल्प विकारी तथा प्रत्येक आकृति में आकृतिवान् होता हुआ संसार की लीला कर रहा है। प्रकाश या चेतन उस लीला का द्रष्टा या साक्षी है। अतः संसार का रूप वास्तव में कल्पित है, और वह (संकल्प या नामरूप प्रपंच) प्रकाश या साक्षी में रक्खा हुआ है।

(७) इससे यह नहीं गुमान करना चाहिए कि भगवत्-ज्ञान प्रकाश और संकल्प से मिश्रित है, क्योंकि जो मिश्रित होता है, वह नाशवान् भी होता है। यह भ्रम सांख्य-शास्त्र के आचार्यों को हुआ था, क्योंकि उन्होंने संकल्प और प्रकाश को दो वस्तुएँ या दो पदार्थ समझा था। संकल्प को उनकी भाषा में प्रकृति कहते हैं, और प्रकाश को पुरुष। अतः सांख्यवादियों की विवेचना का परिणाम यह निकला कि पुरुष और प्रकृति के मेल से यह संसार उत्पन्न हुआ है। अर्थात् प्रकृति बदलती हर रूप में तद्रूप होती है और पुरुष से मिली रहती है। परंतु प्रकृति या संकल्प

जड़ तथा तमरूप है। और, पुरुष या चेतन प्रकाशमान या ज्योति-स्वरूप है। प्रकृति यद्यपि हर रूप के तदाकार होती है, तथापि अपने प्रकाश या अस्तित्व में पुरुष के अधीन है।

(८) विज्ञानवादी की भूल यह थी कि उसको संकल्प और प्रकाश में विवेक नहीं हुआ था, और सांख्य-शास्त्र के आचार्यों ने यद्यपि इस भ्रम से छुटकारा पाया, अर्थात् संकल्प और प्रकाश में विवेक कर लिया, तथापि यह भूल उनसे भी हुई कि संकल्प और प्रकाश दोनों को उन्होंने अलग-अलग पदार्थ मान लिया। पर यह अद्वैत सिद्धांत के विपरीत तथा वेद-विरुद्ध है, क्योंकि वेद में एक अकेले सत् का अनेक जगह पर संकेत है।

(९) ब्रह्मविद्या के आचार्य कहते हैं कि संकल्प का अस्तित्व नहीं, वरन् देखनेमात्र या आभासमात्र है, और प्रकाश वास्तव में अस्तित्व या सत्तामात्र है। यदि संकल्प और प्रकाश दोनों ही अस्तित्ववान् (सत्) होते, तो द्वैत या दोनों की मिलावट जरूरी होती। परंतु संकल्प अस्तित्ववान् (सत्) नहीं, वरन् देखनेमात्र या आभासमात्र है, इसलिये भगवत्-ज्ञान में द्वैत या दोनों की मिलावट नहीं।

(१०) आभास की असलियत उनके विचार में यह है कि वस्तु वास्तव में अस्तित्ववान् तो न हो, पर देखने में आवे। जैसे मरुस्थल में जल होता तो नहीं, पर देखने में आता है। अतः जल आभासमात्र है, वास्तव में अस्तित्ववान् नहीं। और,

रेत (बालू) वास्तव में अस्तित्ववान् है। इसलिये मृगतृष्णा के जल की असलियत जल और रेत से मिश्रित नहीं है।

(११) मृगतृष्णा के जल की असलियत में यद्यपि परस्पर मिश्रण किसी का अथवा वास्तविक मिलावट किसी की है नहीं, तो भी आभास की दृष्टि से मृगतृष्णा की असलियत जल और बालू की एक प्रकार से मिली हुई मिलावट कही जाती है। और ऐसा मिश्रण या मिलावट मृगतृष्णा की फैलावट के फल में बाधक या दूषित नहीं हो जाती।

(१२) इसी तरह ज्ञान की सत्ता में ख़्याल या संकल्प देखने-मात्र है, वास्तव में नहीं। और, चेतन या प्रकाश वास्तव में है। इसलिये भगवत्-ज्ञान वास्तव में संकल्प व चेतन या ख़्याल व प्रकाश की मिलावट से नहीं, बल्कि भगवत्-ज्ञान अविभक्त, अद्वैत और प्रकाशमात्र है, तो भी मिलावट कल्पित कही जा सकती है।

(१३) यद्यपि ख़्याल या संकल्प भगवत्-ज्ञान में देखनेमात्र है, वास्तव में नहीं, तो भी उस (संकल्प) की विचित्रताएँ इतनी हैं, जिनका अंत नहीं, वरन् जगत् के समग्र नाम-रूप का उपादान कारण वही है, क्योंकि वही प्रत्येक रूप व पदार्थ में तद्रूप होता भगवत्-चेतन में अनुभूत व प्रत्यक्ष होता है, और ज्ञान की विचित्रताओं के रूप में दिखाई देता है।

(१४) चूँकि वह (संकल्प) समस्त संसार का उपादान कारण है, इसलिये उसको प्रकृति कहते हैं, और इसीलिये सारे

संसार की विचित्रताएँ उसी (संकल्प) की विचित्रताएँ हैं, वरन् जो घटना बुद्धि से बाहर और असंभव हो, वह वही कर दिखाता है। इसीलिये उसी का नाम माया है, और उसके विचित्र खेल या कौतुक स्वप्न और जाग्रत्-अवस्थाओं में प्रत्यक्ष मालूम होते हैं।

(१५) चूँकि उस (ख़्याल या संकल्प) की असलियत देखनेमात्र है, वास्तव में नहीं, और स्पष्ट है कि आभास विना किसी अस्तित्व के होता नहीं, और उसका अपना अस्तित्व सिद्ध नहीं, वरन् भगवत्-चेतन के अस्तित्व से उसकी स्थिति व विद्यमानता होती है। इसलिये वह स्वतः स्थित नहीं, वरन् दूसरे से स्थित है। इसी कारण उसको गुण या विशेषण अथवा शक्ति बोलते हैं; अतः यही संकल्प भगवत्-शक्ति है।

(१६) इस (संकल्प) का निजी गुण अज्ञानमात्र अविद्या है; क्योंकि जाग्रत्-अवस्था में यद्यपि यह भगवत्-चेतन से सत्ता पाया हुआ पदार्थ रूप से दिखाई देता है, किंतु जब वह भगवत्-चेतन से सत्ता पाया हुआ नहीं होता, तो अज्ञान या अविद्या को अपना निजी गुण स्पष्ट दिखलाता है। देखो, सुषुप्ति में जब भगवत्-चेतन से वह प्रकाशित नहीं होता, तो वह अज्ञान या अविद्या सिद्ध होता है।

(१७) कुछ विद्वानों ने अविद्या को ज्ञान-विहीन अर्थात् ज्ञान का नितांत अभाव माना था। वास्तव में यह मानना उनका अज्ञान और झूठा गुमान है। क्योंकि ब्रह्मविद्या में ज्ञान पुरातन या शाश्वत सिद्ध हुआ है, उसका अभाव या नाश असंभव है।

इस कारण से वह (अज्ञान) ज्ञान का अभावरूप नहीं, बल्कि वृत्तिरूप ज्ञान की विरोधी घटना है। यद्यपि वह (अज्ञान) वृत्तिरूप ज्ञान का विरोधी है, तथापि असली ज्ञान या चेतन के अनुकूल है।

(१८) ब्रह्मविद्या के आचार्य कहते हैं, अविद्या वास्तव में एक ईश्वरीय घटना है, जो ब्रह्म या ईश्वर में आरोपित है। उसका उदाहरण भौतिक अंधकार के समान है।

(१९) जिज्ञासु को देखने में जिस तरह भौतिक अंधकार प्रकाश का अभाव रूप मालूम होता है, उसी तरह कुछ विद्वानों को यह अविद्या ज्ञान का अभावरूप गुमान होती है। परंतु ब्रह्मविद्या के आचार्य भौतिक अंधकार को भी प्रकाश का अभावरूप निश्चय नहीं करते, वरन् उसको एक प्रत्यक्ष या भावरूप घटना समझते हैं।

(२०) देखो, अँधेरी रात में जो अंधकार की प्रतीति होती है, यद्यपि वह वास्तव में सत्य घटना नहीं, क्योंकि विचार दृष्टि से वह अवस्तुमात्र है, तो भी वह कालिमा के गुण में विस्तृत प्रतीत होती है, इसलिये वह अभाव-मात्र भी नहीं, बल्कि आभासमात्र या भाव-रूप है। संस्कृत-भाषा में प्रतीति को आभास, प्रत्यक्ष को भाव-रूप, वस्तु को सत् और अवस्तुमात्र को असत् बोला करते हैं।

(२१) यद्यपि अँधेरी रात में विचार-दृष्टि से अँधेरा तुच्छ या अवस्तुमात्र है, परंतु जब दीपक जलाया जाता है,

तो उस (अँधेरे) में संकीर्ण होने की चेष्टा सिद्ध होती है, क्योंकि जहाँ तक दीपक का प्रकाश फैलता जाता है, अँधेरा अत्यंत वेग से भागता दिखाई देता है। और, जब हम दीपक को बुझाते हैं, तो झट उसी तरह (वह अँधेरा) विस्तृत हो जाता है, वरन् इतने वेग से फैलता है, मानो वह पहले ही से विस्तृत था। इस हेतु से इसमें फैलने व संकीर्ण होने की चेष्टा प्रतीत होती है।

(२२) और, यह भी स्पष्ट है कि जिस तरह इस अँधेरे में कालिमा दिखाई देती है, उसी तरह पदार्थों को आच्छादित करने का गुण भी उसमें प्रतीत होता है, क्योंकि जब वह (अँधेरा) जगत् में फैलता है, तो कुछ दिखाई नहीं देता। और, चूँकि कालिमा, गति और आवरण इसमें प्रतीत होते हैं, इसलिये वह भौतिक प्रकाश का अभाव-रूप नहीं, क्योंकि ये (उक्त गुण) अभाव-रूप घटना के विरोधी हैं।

(२३) यद्यपि उपर्युक्त रीति से वह (अँधेरा) असत् नहीं, तथापि विचार-दृष्टि से उसका अस्तित्व भी नहीं, क्योंकि जब वह प्रकाश के कारण संकुचित होता है, तो उसका संकोच या सिकुड़ना इतना होता है, जिसका कहीं चिह्न तक नहीं रहता, वरन् जब सूर्योदय पर दिन चढ़ता है, तो वह किसी जगह भी दिखाई नहीं देता। उस समय बिंदु के समान उसकी यह परिभाषा हो सकती है कि उसका स्थान तो नियत है, परंतु वह परिमाण नहीं रखता। और, फिर वह (अँधेरा) बिंदु भी

नहीं, क्योंकि सूर्यास्त के बाद वह धरातलवत् इतना फैलता है कि जिसका अंत नहीं। और, फिर इस फैलावट में भी वह केवल लंबाई-चौड़ाई तो रखता है, गहराई या मोटाई नहीं रखता, इसलिये वह भौतिक पदार्थ भी नहीं।

(२४) जिस तरह वह देह नहीं, देहवाला भी नहीं, क्योंकि किसी देह में वह विद्यमान नहीं। यद्यपि कालिमा, गति और आवरण इत्यादि घटनाएँ उसमें गुण के समान प्रतीत होती हैं, तथापि वह वास्तव में कालिमा-स्वरूप व गति-स्वरूप है, इसलिये आधार या गुणी नहीं, क्योंकि गुण विना गुणी के नहीं होते। यद्यपि वह (अंधकार) ठीक कालिमा व गति है, तथापि विना गुणी या आधार के है, इसलिये वह गुण या आधेय में भी नहीं गिना जाता। सारांश उक्त कथन का यह कि अंधकार की असलियत विचार-दृष्टि से न असत् है न सत्, न गुण है न गुणी और न देह है न देहवान्, वरन् प्रतीतिमात्र घटना है, जिसका आभास तो है, अस्तित्व नहीं।

(२५) अविद्या की असलियत भी अंधकार के समान वास्तव में ज्ञान का अभाव नहीं, क्योंकि अंधकार के समान उसमें जाग्रत् व सुषुप्ति के समय संकीर्ण व विस्तीर्ण होने की गति प्रतीत होती है। चुनाँचि सुषुप्ति-काल में जब वह (अविद्या) चेतन या आत्मा में विस्तृत होती है, तो उस समय आवरण शक्ति या अज्ञानता उसमें स्पष्ट होती है, और वही (अविद्या) जब सुषुप्ति से निकलती है, तो संकल्प के रूप में उठती बाह्य

गति करती है; और फिर जब सुषुप्ति में जाती है, तो संकीर्ण होती हुई अपनी भीतरी गति (आवरण-शक्ति या अज्ञानता के गुण) का स्पष्टीकरण करती है।

(२६) यद्यपि वह (अविद्या) सुषुप्ति में चेतन या आत्मा को आच्छादन करने का गुण रखती है, तथापि जाग्रत्-काल में वह चेतन को दर्शानेवाली अथवा चेतन या आत्मा के स्पष्टीकरण का हेतु सिद्ध होती है, और आवरण या अंधकार की शक्ति उसमें दिखाई नहीं देती। निदान, हर प्रकार भौतिक अंधकार के समान जैसा ऊपर वर्णन हुआ है, वह (अविद्या) विचित्र या आभासमात्र घटना सिद्ध होती है, वरन् भौतिक अंधकार की अपेक्षा उसकी यह विचित्र शक्ति अधिक है कि वह जगत् के हर पदार्थ की असलियत व आकृति से तद्रूप हो जाती है, जैसा कि स्वप्नावस्था में वह पृथिवी, आकाश इत्यादि की आकृति में तरंगायित होती प्रत्यक्ष दिखाई देती है।

(२७) सुषुप्ति-काल में जब वह (अविद्या) चेतन या आत्मा को गूढ़ आच्छादन करने का हेतु होती और निश्चेष्ट रहती है, तो उस अवस्था में उसका नाम अज्ञान या अविद्या या प्राण होता है। किंतु वही अविद्या जब जाग्रत् में उठती—चेतन को दर्शानेवाली होती—गति करती है, तो ख़्याल या वृत्ति कहलाती है। और, वही अविद्या जब चेतन या आत्मा को दर्शानेवाली होती हुई निश्चेष्ट होती है, तो उस समय वह

अंतःकरण कहलाती है। अतः एक अकेली अविद्या भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण नाना नामों से प्रसिद्ध होती है।

(२८) सारांश इस विवेचना का यह है कि प्रकृति, माया, शक्ति, अविद्या, अज्ञान, संकल्प, वृत्ति, अंतःकरण, आदि-कारण, प्राण, अहंकार, महत् आदि समस्त नाम एक अकेली आभास-मात्र अविद्या के हैं, किंतु भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में वही एक अकेली (अविद्या) अलग-अलग नामों से विशिष्ट होती है। जैसा कि एक ही व्यक्ति जब शासन करता है, तो शासक कहलता है, जब वही लेख लिखता है, तो लेखक और जब वही यात्रा करता है, तो यात्री इत्यादि नामों से विशिष्ट होता है, वास्तव में एक ही व्यक्ति के नाम विभिन्न अवस्थाओं में अलग-अलग हैं।

(२९) यही संकल्प या ख़्याल सुषुप्ति में जब आच्छादन करनेवाली दशा में प्रतीत होता है, तो उस समय वह अज्ञान या अविद्या या प्राण या कारण शरीर बोला जाता है। यही संकल्प या ख़्याल जब जानने की शक्ति में किंतु निश्चेष्ट अवस्था में प्रतीत होता है, तो उस समय वह अंतःकरण या बुद्धि बोला जाता है। और, यही जानने की शक्तिवाले अंतःकरण में चेष्टावान् होता ख़्याल या संकल्प होता है। और, यही ख़्याल या संकल्प जब पदार्थों के रूप में प्रतीत होता है, तो वह उपादान-कारण या प्रकृति या माया नाम पाता है। परंतु नाम और शब्दों की विभिन्नता के कारण जिज्ञासु नामी और अर्थों का

भेद समझता है। इसलिये ब्रह्मविद्या या अद्वैत सिद्धांत के गूढ़ विषय व तात्पर्य उसकी समझ में नहीं आते। अतएव हमने ऊपर पूर्ण विस्तार के साथ उसे लिख दिया है।

(३०) अज्ञान या अविद्या शब्द का उपचार प्रायः ब्रह्मविद्या में होता है, और उसका प्रयोग भारत के अद्वैतवादी अधिकतर करते हैं। और, सर्व-साधारण अज्ञान शब्द का अर्थ मूर्खता समझते हैं। इसी कारण वह इससे घृणा करते हैं, क्योंकि अज्ञान ईश्वर का गुण नहीं हो सकता; यद्यपि अज्ञान या अविद्या का अर्थ ब्रह्मविद्या में मूर्खता नहीं, वरन् एक ईश्वरीय विभूति सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के रूप में है, जिसकी विवेचना ऊपर की गई है। इसे अविद्या या अज्ञान नाम देने का कारण यह है कि वह (शक्ति) मनुष्य को भुलावा देती है, और साथ ही वह मनुष्य आत्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार से विमुख हो जाता है। इसलिये आत्मा या चेतन के नाम के मुक़ाबले में उसका नाम अज्ञान या अविद्या होता है। इसीलिये उसको इस नाम से भारत के अद्वैतवादी वर्तते हैं।

(३१) जब भारत के अद्वैतवादी कहते हैं कि समग्र संसार अज्ञान या अविद्या से उत्पन्न हुआ है, तो उसके ये अर्थ नहीं कि संसार भूल या गलती से उत्पन्न हुआ है, बल्कि उसके अर्थ ये हैं कि भगवत्-ज्ञान के संकल्प या ख़्याल से वह उत्पन्न हुआ है। और, चूँकि इसी (संकल्प या ख़्याल) को वह शक्ति या माया नाम देते हैं, तो उसके ये ही अर्थ हुए कि संसार शक्ति या

माया से उत्पन्न हुआ है। परंतु सर्व-साधारण लोग इन अर्थों में पहले शब्दों के प्रयोग के कारण कुछ अन्य अभिप्राय समझते हैं। यद्यपि अज्ञान से उत्पत्ति का वाक्य यही अभिप्राय रखता है कि जगत् माया या शक्ति से उत्पन्न हुआ है, किंतु माया या शक्ति की असलियत सर्व-साधारण लोग वास्तव में नहीं जानते कि वह अज्ञान या अविद्या या ख़्याल है। इसलिये भारत के अद्वैतवादी पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिये इन्हीं शब्दों का प्रयोग अज्ञान या संकल्प से करते हैं, जिससे वह माया या शक्ति की असलियत को समझ लेवें।

(३२) जिस तरह इस आभास रूपी वस्तु के भिन्न-भिन्न नाम हैं, उसी तरह उस सत् वस्तु के भी अनेक नाम हैं— सत्, चित्, आनंद, चेतन, आत्मा, ब्रह्म, प्रकाश, कूटस्थ, अक्रिय, अविनाशी, चिदाकाश, चिदणु इत्यादि-इत्यादि।

(३३) अब मालूम हुआ कि अज्ञान या अविद्या का अर्थ मूर्खता या भूल नहीं, तो विरोधियों की समस्त आपत्तियाँ स्वतः दूर हो जाती हैं। शायद इस उक्त व्याख्या में कुछ संदेह हो, तो वेदांत-शास्त्र में जो परिभाषा अज्ञान या अविद्या की की गई है, उसे हम जैसी-की-तैसी लिखते हैं।

(३४) ब्रह्मविद्या के आचार्य अज्ञान या अविद्या की परिभाषा या लक्षण यों लिखते हैं कि वह त्रिगुणात्मक भाव-रूप अघट घटन है। अब हम इन शब्दों के अर्थ पूर्ण रीति से स्पष्ट करते हैं। पहला शब्द त्रिगुणात्मक है, और इसके अर्थ वास्तव

में ये हैं, तीन गुण है अपना आप जिसका (जिसके तीन गुण अपने निजी हैं), अर्थात् वह ठीक त्रिगुण-स्वरूप है। और वे तीन गुण ये हैं —सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण।

(३५) जानने की निश्चेष्ट अवस्था को संस्कृत में सतोगुण, जानने व ख़्याल की सचेष्ट अवस्था को रजोगुण और आवरण या आच्छादन करनेवाली अवस्था को तमोगुण कहा करते हैं। अतः त्रिगुणात्मक के अर्थ ये हैं कि वास्तव में वह ठीक बोध रूप, ठीक ख़्याल या चेष्टारूप और ठीक आवरण रूप है।

(३६) उक्त अज्ञान की परिभाषा व लक्षण में दूसरा शब्द भाव-रूप है। और, भाव-रूप के अर्थ ये हैं कि वह प्रतीतिमात्र या आभास-रूप है, सत् रूप नहीं। भाव-रूप की परिभाषा या लक्षण उन्होंने सत्-असत् से विलक्षण लिखे हैं। सत् का अर्थ संस्कृत में वस्तु या अस्तित्वान् है, और असत् का अर्थ अवस्तु या अभाव-मात्र है। विलक्षण का अर्थ इन दोनों से विभिन्न है, अर्थात् वह सत्-असत् से अन्य या अनिर्वचनीय है, क्योंकि सत् की असलियत उनके निकट अविनाशी, अव्यक्त स्वरूप है, और असत् की असलियत अस्तित्व व भाव से शून्य अवस्था है। अज्ञान या अविद्या यद्यपि अव्यक्त स्वरूप है, पर अविनाशी नहीं, इसलिये सत् वस्तु नहीं। यद्यपि वह अपना अस्तित्व नहीं रखती, जिससे वह अस्तित्व-विहीन है, तथापि वह प्रतीति व भाव से शून्य नहीं; क्योंकि उसका लोप होता है, अतएव वह सत्-असत् से अन्य, आभास-मात्र या भाव-रूप है।

(३७) उक्त (अज्ञान या अविद्या की) परिभाषा में तीसरा शब्द अघट-घटन है, और उसके अर्थ ये हैं कि जो वस्तु असंभव हो, उसी को बना दे। अतः वास्तव में वह (अविद्या) बुद्धि-अगम्य पदार्थों को बना सकती है। देखो, वीर्य से मानुषी आकृति की बनावट असंभव घटना का आविर्भाव है, इस कारण से वह महद्बुद्धि है।

(३८) अब पूर्वोक्त अर्थों के अनुसार अज्ञान या अविद्या की परिभाषा यह निकलती है कि वह (अज्ञान) महद्बुद्धि, सत्व, रज और तम-रूप आभास-मात्र या भाव-रूप है, सत् या असत् नहीं। पता नहीं, विरोधी लोग अज्ञान शब्द से मूर्खता या भूल कैसे अर्थ लेते हैं। यदि उन (अद्वैतवादियों) का अभिप्राय अज्ञान से मूर्खता या भूल होता, तो उसकी परिभाषा भी वे इन्हीं शब्दों में करते। परंतु यह कहीं नहीं दीखता; ब्रह्मविद्या में किसी स्थान पर भी यह वर्णन कि जगत् मूर्खताई या भूल से उत्पन्न हुआ है, नहीं मिलता।

(३९) परिणाम इस विवेचना का यह है कि भगवत्-ज्ञान में जो प्रकाश या चेतन है, वही आत्मा है, वही ब्रह्म है, और वही सत् वस्तु है। ख़्याल या संकल्प भी वही है, माया वही है, अज्ञान, प्रकृति और शक्ति वही है, किंतु इस रूप में उसकी असलियत आभास-मात्र है, सत् नहीं।

(४०) चेतन या आत्मा निर्विकार और स्थायी है। ख़्याल उसमें जगत् के पदार्थों से तदाकार व विकारवान् होता हुआ

विचित्र अनेकता और प्रपंच को दर्शाता है। आत्मा दर्पणवत् है और बाह्य आकृतियों का उदाहरण प्रतिबिंबित आकृतियों के तुल्य है। जिस तरह दर्पण में उक्त प्रतिबिंबित आकृतियाँ वैसी ही सज-धज से दिखाई देती हैं और वास्तव में होती नहीं हैं, उसी तरह चेतन में कल्पित संसार विद्यमान दिखाई देता है, वास्तव में अस्तित्व की गंध भी उसमें प्रवेश नहीं हुई होती।

(४१) दृष्टांत में दर्पण प्रतिबिंबित आकृतियों का अधिष्ठान-मात्र या आधारमात्र होता है, उनका साक्षी नहीं होता, वरन् उनका अनुभव चक्षु को होता है, और साथ इसके प्रतिबिंबित आकृतियाँ अपनी प्रतीति में बाह्य आकृतियों के अधीन होती हैं। दार्ष्टांत में दर्पण की अपेक्षा यह विचित्र बात है कि प्रतिबिंबित आकृतियाँ अपनी प्रतीति मे बाह्य आकृतियों के अधीन नहीं। और यद्यपि यह चेतन दर्पणवत् उन प्रतिबिंबित आकृतियों का केवल अधिष्ठान या आधार है, तथापि स्वयं ही उनका साक्षी या द्रष्टा है।

(४२) यद्यपि दर्पण का दृष्टांत किसी कारण से समानता रखता है, किंतु सर्व प्रकार से उसकी पूर्ण समानता नहीं, वरन् जगत् में ऐसा कोई भी दृष्टांत नहीं, जो सर्व प्रकार से समान उतरे। परंतु अनुभव उसका स्वप्नावस्था में स्पष्ट होता है। इसलिये दृष्टांत की आवश्यकता नहीं। देखो, स्वप्न में चेतन व ख़्याल (संकल्प) से इतर कुछ नहीं होता, और फिर चेतन में ही ख़्याल या संकल्प जगदाकार हुआ दिखाई देता है। उस स्वप्न-काल में

जगत् के रूप ख़्याल के कारण से हैं, चेतन के कारण से नहीं। परंतु उनका द्रष्टा वा साक्षी अथवा प्रकट करनेवाला यही चेतन होता है। अतः स्वप्न में चेतन दर्पण के तुल्य भी है, क्योंकि कल्पित आकृतियाँ उसमें प्रतीत होती हैं, और उनका साक्षी व द्रष्टा भी वही है। और, कल्पित आकृतियाँ भी यद्यपि उस दर्पण रूपी चेतन में प्रतिबिंब या छाया के तुल्य प्रकाशमान होती हैं, तथापि बिंब या पदार्थ के अधीन नहीं, वरन् उनकी उत्पत्ति व प्रतीति ऐसी होती है, जैसी किसी दर्पण में बिना बिंब के प्रतिबिंबित आकृतियाँ दिखाई दें।

(४३) जाग्रत्-अवस्था में भी जो यह समस्त जगत् है, कल्पना-मात्र है, सत् नहीं। परंतु ख़्याल के जिन विचित्र रहस्यों के कारण स्वप्न-काल में स्वप्न-संसार अपने से बाहर विद्यमान दिखाई देता है, उन्हीं विचित्र रहस्यों के कारण जाग्रत्-काल में यह जाग्रत्-जगत् भी अपने से बाहर विद्यमान कल्पित होता है। वास्तव में क्या स्वप्न-संसार और क्या जाग्रत्-जगत् दोनों ठीक एक समान हैं।

(४४) स्वप्न-संसार यद्यपि स्वप्न-काल में अपने से पृथक् व सत्य मालूम होता है, परंतु जाग्रत्-काल में नितांत निश्चय हो जाता है कि वह भ्रम व ख़्याल था, वास्तविक व सत्य न था। जाग्रत्-जगत् भी यद्यपि ख़्याली व भ्रमात्मक है, परंतु पूर्णतया मनुष्य पर सिद्ध नहीं होता कि वह ख़्याली व भ्रमात्मक है। इसका कारण यह है कि जाग्रत्-जगत् का उपादान कारण

आदि-संकल्प या बहुसंख्यक ख़्याल हैं, और स्वप्न-संसार का उपादान कारण सादि-संकल्प व एक अकेला ख़्याल है।

(४५) इस विषय में ब्रह्मविद्या के आचार्यों के दो मत हैं— एक मत में एक अकेला चेतन और एक ख़्याल है। वे कहते हैं कि जब ख़्याल चेतन में ख़्याली आकृतियाँ उत्पन्न करता है, तो प्राणी की आकृति में अपनी समान आकृति भी उसी सज-धज से उत्पन्न कर लेता है। देखो, स्वप्न में जब यह ख़्याल स्वप्न-संसार बनाता है, तो मानवीय आकृति (अपनी असली आकृति) में भी पुनः मूर्तिमान हो जाता है। अतः यह परिच्छिन्न ख़्याल स्वप्न-संसार के आदि-संकल्प की अपेक्षा सादि-संकल्प के स्थान पर है। और, स्पष्ट है कि सादि-संकल्प आदि-संकल्प की अपेक्षा नीचे दर्जे का है, अतः सादि-संकल्प की कल्पनाएँ आदि-संकल्प की अपेक्षा कल्पित व मिथ्या मालूम होती हैं। सृष्टि के आदि में संकल्प जब प्रत्यक्ष पदार्थों की कल्पनाओं के रूप में क्षोभित हुआ, तो जाग्रत्-जगत् उत्पन्न हुआ, और वही संकल्प कल्पित मानवीय आकृति में प्रकट या मूर्तिमान होता हुआ अपनी विचित्र शक्तियाँ स्वप्न में प्रत्यक्ष दर्शाता है। परंतु स्वप्न की विचित्र शक्तियाँ और क्रियाएँ चूँकि सादि-संकल्प की होती हैं, इसलिये आदि-संकल्प की विचित्र शक्तियों की अपेक्षा वे कल्पित या भ्रमात्मक सिद्ध होती हैं, और जाग्रत्-जगत् कल्पित नहीं सिद्ध होता। वास्तव में क्या स्वप्न-संसार और क्या जाग्रत्-जगत् दोनों एक अकेले संकल्प

की कल्पनाएँ हैं। सत्य-असत्य का अंतर तो दर्जों के विचार से है।

(४६) दूसरा मत यह है कि चेतन एक अकेला है, किंतु ख़्याल उसमें बहुसंख्यक हैं। इस मत के अनुयायियों को नाना अज्ञानवादी बोलते हैं। उनका तात्पर्य है कि प्रत्येक संकल्प जगत् की उत्पत्ति में शक्तिमान् है, किंतु बाह्य जगत् या जाग्रत्-जगत् समष्टि रूप से समस्त संकल्पों द्वारा कल्पित हुआ है, और स्वप्न-संसार या स्वप्न एक अकेले ख़्याल से भिन्न-भिन्न उत्पन्न होता है। अतः वे कल्पनाएँ, जो समष्टि रूप संकल्पों की कल्पनाएँ हैं, सत्य और अपने से पृथक् मालूम होती हैं, और प्रत्येक की व्यष्टिगत कल्पनाएँ अलग-अलग कल्पित व भ्रमात्मक मालूम होती हैं।

(४७) मान लो कि दस मनुष्यों को एक रज्जु में सर्प का भ्रम हुआ, तो स्पष्ट है कि इस ख़्याल ने अकेली रज्जु में समूह रूप से सर्प की कल्पना की। चूँकि दस ख़्याल इस सर्प रूपी कल्पना का समर्थन करते हैं, ग्यारहवें मनुष्य की अपेक्षा जिसको इसी रज्जु में धरती की दराड़ का भ्रम हुआ है, यह अधिक विश्वास-योग्य होगा। इसी तरह जाग्रत्-जगत् अपने से भिन्न अनेक व्यक्तियों के ख़्याल से कल्पित है, और स्वप्न-संसार एक अकेले ख़्याल से कल्पित होता है। इसलिये जाग्रत्-जगत् और स्वप्न-संसार में सच और झूठ का अंतर मालूम होता है। वास्तव में स्वप्न-संसार और जाग्रत्-जगत् दोनों कल्पित और भ्रम-रूप हैं।

(४८) जब माल्रुम हुआ कि स्वप्न-संसार और जाग्रत्-जगत् में एक संबंध है, और दोनों का उपादान कारण संकल्प या अज्ञान है, तो स्पष्ट हुआ कि समस्त प्रपंच, क्या स्वप्न-संसार, क्या जाग्रत्-जगत्, कल्पित और भ्रम-रूप हैं, और चेतन या आत्मा उनका साक्षी या द्रष्टा है। इसी कारण वह शुद्ध और असंगात्मा है, और अकर्त्ता व अभोक्ता है।

(४९) जब ज्ञानवान् इस प्रकार की विवेचना से इस अवस्था को प्राप्त होता है, तब समस्त संसार को स्वप्न व ख़्याल देखता हुआ अपने आत्मा को प्रकाशों का प्रकाश (ज्योतिषाँ ज्योति), साक्षी और द्रष्टा जानता है। और, जन्म-मृत्यु तथा रुचिकर व अरुचिकर को स्वप्न के दुःख-सुख के समान समझता हुआ उनसे लिपायमान् या लिप्त नहीं होता है। इसी को जीवन्मुक्त बोलते हैं। अतः जान लो कि जो कुछ दिखाई देता है, आपका ही भ्रम और संकल्प है, किसी स्रष्टा की सृष्टि नहीं। आप ही उसका प्रकट करनेवाला और द्रष्टा है। यही अभीष्ट था।

ॐ इति

उपदेश छठवाँ

(१) ऐ प्यारो! पिछले उपदेशों में सिद्ध हुआ है कि भगवत्-ज्ञान ही ईश्वर-परमात्मा है, और पाँचवें उपदेश में सिद्ध किया है कि वह वास्तव में शुद्ध चेतन है, जिसको संस्कृत में असंगात्मा बोलते हैं। और, उसका यह निजी गुण सर्वोपरि श्रेष्ठ है, अन्य गुण और नाम उसमें संकल्प की दृष्टि से कल्पित व ख़्याली हैं। अब उन नामों और गतियों को जो ख़्याल के कारण भगवत्-ज्ञान में आरोपित होती हैं, वर्णन करता हूँ। ध्यान देकर सुनो।

(२) जान लो कि भगवत्-ज्ञान-रूप आत्मा की संकल्प के कारण दो गतियाँ हैं—एक ऊर्ध्वगति अर्थात् आधिदैविक भ्रमण, दूसरी अधोगति अर्थात् नीचे के लोकों में भ्रमण। किंतु अधोगति फिर दो प्रकार की है—एक आध्यात्मिक, और एक आधिभौतिक। इस भिन्न-भिन्न गति में शुद्ध आत्मा के विचित्र नाम और क्रियाएँ हैं, जिनकी गणना नहीं, तो भी समझाने के विचार से कुछ का समष्टि रूप से संकेत करता हूँ।

(३) जो उपाधियाँ व अवस्थाएँ मानवीय योनि में हैं, उनमें भगवत्-ज्ञान का जब आविर्भाव अर्थात् गति होती है, तो उसको अध्यात्म कहते हैं। और, जो उपाधियाँ व अवस्थाएँ दैविक

योनि में हैं, उनमें भगवत्-ज्ञान का जब आविर्भाव होता है, तो उसे अधिदैव बोलते हैं, जिसका अर्थ हम ऊर्ध्वगति करते हैं। और, जो उपाधियाँ तथा अवस्थाएँ (पंच) भूतों में होती हैं, उनमें जब भगवत्-ज्ञान का प्रवेश या प्रादुर्भाव होता है, तो उसका आधिभौतिक नाम रखते हैं।

(४) वेदांत-शास्त्र-वेत्ता इन ऊर्ध्व व अधोगतिवाली उपाधियों को पुरि या नगर की उपमा देते हैं। अर्थात् जैसे एक मनुष्य पुरियों या नगरों में भ्रमण करता है, उसी तरह इन उपाधि-रूपी पुरियों में आत्मदेव का भ्रमण होता है। इस हेतु श्रुति भगवति इस ज्ञानदेव (आत्मदेव) का नाम पुरुष रखती है, क्योंकि संस्कृत में जो भ्रमण या यात्रा करता हो, उसे पुरुष बोलते हैं।

(५) मानवीय योनि में समष्टि रूप से तीन अवस्थाएँ भगवत्-ज्ञान की आरोपित होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। और हर तीन अवस्थाओं में भगवत्-ज्ञान को जो गति प्राप्त होती है, उसके तीन नाम व तीन स्थान होते हैं।

(६) जाग्रत्-अवस्था में भगवत्-ज्ञान का प्रवेश व स्थान चक्षु में होता है, क्योंकि जब मनुष्य गर्भाशय से निकलता है, या स्वप्न से उठता है, तो भगवत्-ज्ञान का झटपट प्रवेश चक्षु में होता है, और प्रत्येक के नेत्र में विराजमान होता नाना रंग-रूप-जगत् में भ्रमण करता है, और रंग-रूपों की विचित्रता का भान करता है।

(७) यह नहीं गुमान करना चाहिये कि जाग्रत्-अवस्था में भगवत्-ज्ञान चक्षु में ही विराजमान होता है, बल्कि जिस तरह चक्षु में विराजता है, उसी तरह श्रोत्र में भी प्रकाशमान होता शब्द-संसार में भ्रमण करता है। और, ऊँचे-नीचे विचित्र स्वरों को सुनता है। इसी रीति से जिह्वा में विराजता रसना-जगत् में भ्रमण करता है और नासिका में विराजता गंध-जगत् तथा मनुष्य की सारी देह अर्थात् त्वचा में विराजता शीतोष्ण का आनंद लूटता है।

(८) यह भी गुमान नहीं करना चाहिये कि जाग्रत्-अवस्था में वह केवल नीचे की पाँच ज्ञान-इंद्रियों में भ्रमण करता है, वरन् मस्तिष्क-रूपी दरबारे-आम (राजसभा) में भी निरंतर विराजता है। क्योंकि पाँच ज्ञान-इन्द्रियों की जानकारी में उत्तमता व क्रम का सोच करता है, इस कारण मस्तिष्क में वह राजसभा करता है, और इसी राजसभा से मानवीय प्रकृति और संकल्प में समय-समय पर आज्ञा प्रदान करता है, जिसमें यह (भगवत्-ज्ञान) मानवीय भौतिक शरीर को संकल्प द्वारा प्रेरता हुआ लीला करता है, और स्वयं ही उस लीला का द्रष्टा व साक्षी रहता है।

(९) जिस तरह एक अकेला ज्ञानदेव मस्तिष्क व पाँच ज्ञान-इन्द्रियों में अनेक-सा होकर मानवीय पिंड-रूपी राज्य का प्रबंध करता है और फिर अंतःकरण में भी विराजमान रहता है, उसी तरह ऊपर के हिरण्यगर्भादि स्थानों को भी न छोड़ता हुआ वहाँ की कार्यवाही भी निरंतर जारी रखता है, और

ब्रह्मादिक देवताओं को उसी तरह प्रेरता है, जिस तरह कि मानवीय इंद्रियों को प्रेरता है।

(१०) निदान, यह अकेला भगवत्-ज्ञान ब्रह्मांड और पिंड के शासन का प्रबंध अपने ही हाथ रखता है, और सांसारिक राजाओं के समान यह नहीं होता कि जब दौरा पर जाना हो, तो राजधानी ख़ाली हो जाय, बल्कि दौरा-काल में भी पिंड और ब्रह्मांड की राजधानियों में निरंतर निवास रखता है। और ये विचित्र गुण भगवत्-ज्ञान के हैं।

(११) चूँकि जाग्रत्-अवस्था में भगवत्-ज्ञान का लौकिक भ्रमण यद्यपि चक्षु तक परिमित रहता है, तथापि पारलौकिक (दैविक) राजधानी उससे ख़ाली नहीं होती। इस हेतु से वह एक अकेला अनेक-सा होता है। अतएव ब्राह्मण लोग उसे एक और अनेक रूप जानकर आराधते हैं।

(१२) यद्यपि वह एक अकेला अनेक-सा होकर ब्रह्मांड में विराजमान है, तथापि जाग्रत्-काल में भगवत्-ज्ञान का अधिकार या अभिमान विशेष करके चक्षु पर होता है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का अनुभव वह चक्षु द्वारा करना चाहता है। इसलिये श्रुति भगवति जाग्रत्-काल में इसका निवास-स्थान चक्षु ही नियत करती है। इसी कारण इंद्र देवता के प्रश्न पर ब्रह्मा ने ईश्वर-दर्शन के संबंध में उत्तर दिया कि जो इस समय मेरे नेत्र में विराजमान है, उसे देख, वही ईश्वर है।

(१३) मानुषी देह वास्तव में विराट् का एक नमूना है,

इसलिये ज्ञानवान् इस (मानुषी देह) को विश्व बोला करते हैं, और जाग्रत् में ज्ञानदेव का अधिकार या अभिमान इस विश्व पर होता है, इसलिये ज्ञानदेव का नाम जीव या विश्व बोलते हैं।

(१४) विदित हो कि मनुष्य वास्तव में ब्रह्मांड का ठीक-ठीक नमूना या आकार है, और ब्रह्मांड सब तीन अवस्थाओं में विभक्त है—(१) समष्टि जाग्रत्, (२) समष्टि स्वप्न, और (३) समष्टि सुषुप्ति। जिस प्रकार व्यष्टि जाग्रत् समष्टि जाग्रत् का नमूना है, उसी प्रकार व्यष्टि स्वप्न समष्टि स्वप्न का नमूना और व्यष्टि सुषुप्ति समष्टि सुषुप्ति का नमूना है। इसलिये इन (पहली) को व्यष्टिगत अवस्था और उन(पिछली)को समष्टि-गत अवस्था कहते हैं।

(१५) जब भगवत्-ज्ञान जाग्रत्-अवस्था के भ्रमण से उपराम होता है, तो स्वप्नावस्था में गमन करता है। उस समय श्रुति भगवती उसका नाम तैजस रखती है।

(१६) जिस समय यह भगवत्-तैजस स्वप्न में आराम करता है और चेतन आकृतियों का आनंद लूटता है, उस समय अपना अधिकार या अभिमान वह चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा और मस्तिष्क आदि से छोड़ जाता है, और केवल अंतःकरण में रखता है।

(१७) यह नहीं गुमान करना चाहिये कि इस अवस्था में वह बाह्य अर्थात् स्थूल शरीर से नितांत निःसंबद्धित हो जाता है, वरन् विक्षेप-शक्ति व प्राण-शक्ति द्वारा उसमें उसका अधिकार

निरंतर बना रहता है, केवल बोध या संवेदन-शक्ति, जिसके कारण वह पूर्ण ज्ञाता होता है, नहीं रहती।

(१८) जब वह संवेदन-शक्ति इस स्थूल शरीर पर अपना प्रभाव नहीं डालती, तो चक्षु, श्रोत्र और घ्राण आदि समस्त इंद्रियाँ वनस्पतिवत् अचेत या जड़ हो जाती हैं, और उस समय उनका जड़ स्वभाव प्रत्यक्ष दीखता है कि विना भगवत्-ज्ञान के वे सब-की-सब व्यर्थ-मात्र हैं। परंतु प्राणों को वह (ज्ञान-देव) रक्षक के स्थान पर वहाँ छोड़ जाता है, ताकि जीवन बना रहे, और इस चेतन शरीर को ख़राबी न प्राप्त हो जाय।

(१९) जिस प्रकार ज्ञानेंद्रियाँ अचेत और जड़ हो जाती हैं, उसी प्रकार कर्मेंद्रियाँ भी अचेत और जड़ हो जाती हैं, किंतु समान, व्यान आदि पंच प्राण-शक्तियाँ जीवन-रक्षा-निमित्त प्राण देवता की आज्ञाधीन सेवा करती रहती हैं।

(२०) जब यह भगवत्-ज्ञान स्वप्न में जाता है, उस समय इसका पूर्ण अधिकार या अभिमान हृदय-कँवल में होता है। इसी कारण श्रुति भगवती तैजस का स्थान हृदयाकाश नियत करती है।

(२१) इस उत्तम स्थान में भगवत्-ज्ञान यद्यपि ज्ञानेंद्रियों से काम नहीं लेता, तो भी सूक्ष्म शरीर को साथ लेकर प्रायः छोटी नाड़ियों में भ्रमण करता है, और अधिकतर पुरीतिका नाड़ी में प्रकट होता है।

(२२) इस भ्रमण-स्थल (सैरगाह) में संकल्प भगवान् या

भगवत्-ख़्याल विचित्र लीला दर्शाते हैं, क्योंकि भगवत्-परमात्मा यदि किंचित् भी गाड़ी का ध्यान करते हैं, तो उत्तम गाड़ी और अच्छे घोड़े ठाठ-बाट से चलते तत्क्षण वह (ख़्याल) उत्पन्न कर देता है। और, चूँकि गाड़ी सड़क पर ख़ूब चलती है और सड़क के लिये विशाल मैदान तथा मैदान के लिये भूमि-आकाश बल्कि समस्त जगत् की आवश्यकता है, इसलिये वह (संकल्प) समस्त पृथिवी, आकाश आदि, उत्पन्न कर दिखाता है। और, यह परमात्मदेव उसी तरह गाड़ी पर सवारी करते हैं, जैसे जाग्रत्-अवस्था में करते थे।

(२३) बढ़कर लीला इस अवस्था में यह है कि किसी घटना की कोई श्रृंखला नहीं होती, वरन् एक क्षण में गाड़ी पर सवार थे, तो दूसरे क्षण में पैदल मैदान में भागते और तलवार हाथ में भय से फिराते दिखाई देते हैं। उसी क्षण में स्वयं भयानक सिंह को देखते इधर-उधर व्याकुल होते हैं। कभी नदी में तैरते, कभी जहाज़ में सवार और कभी पंख लगाकर आकाश में उड़ते विचित्र लीला देखते हैं।

(२४) निदान, इस अवस्था के भ्रमण में श्रृंखला-रहित, क्षण-क्षण में नाना दशा और नाना दशाओं में प्रवृत्त होते अपनी विचित्र शक्तियों का स्पष्टीकरण करते हैं।

(२५) जाग्रत्-अवस्था से जब इस स्वप्नावस्था में यह (परमात्मदेव) भ्रमण करते हैं, तो अपनी निजी बेपरवाही (स्वच्छंदता) को सिद्ध करते हैं। क्योंकि जाग्रत्-अवस्था में

बुद्धिमानों की बुद्धि ने इस (परमात्मदेव) को नाना साधनों के अधीन समझा था। इसलिये उपदेशार्थ वह (परमात्मदेव) इंद्रियों व साधनों को छोड़कर उसी प्रकार के संसार, पदों और पदार्थों को उत्पन्न करते स्वयं ज्ञाता और विना साधनों के कार्य करनेवाले दिखाई देते हैं। इसी कारण श्रुति भगवती इनकी ऐसी उपमा करती है कि वह (परमात्मदेव) विना आँख के देखता, विना कान के सुनता, विना पाँव चलता और विना हाथ पकड़ता है।

(२६) उक्त विचित्र शक्तियाँ जो दर्शाई गई हैं कि समस्त स्वप्न-संसार को वह अपने ही ख़्याल या संकल्प से उत्पन्न करता है, उनसे अतिरिक्त अधिक विचित्र रहस्य यह है कि जाग्रत्-अवस्था के समान स्वप्नावस्था में वह इस स्वप्न-संसार को किसी अन्य पूर्ण व्यक्ति से रचा हुआ और अपने आपको उत्पन्न अनुमान करता है, मानो इस गुह्य भेद को दिखाता हुआ जाग्रत्-अवस्था में अपनी अधीनता भ्रमोत्पन्न सिद्ध करता है। इस कारण से श्रुति भगवती इसकी स्तुति में इसे पूर्णों का पूर्ण कहती है।

(२७) यद्यपि इंद्रियों की निःसंबंधता के कारण वह (परमात्मदेव) इस (स्वप्न) अवस्था में अपनी स्वच्छंदता दर्शाता है, तो भी ख़्याल की उपाधियों में बद्ध या अधीन है, इसलिये इससे भी उपराम होता हुआ इस स्वप्न-संसार से भी निकल जाता है। और, सुषुप्ति में आनंदावस्था में चला जाता है।

की यात्रा है। क्योंकि मानवीय पदवी (उपाधि) वास्तव में ईश्वरीय पदवी (उपाधि) का प्रतिरूप व आभास है, और वह यह है कि जिस तरह मनुष्य-शरीर वास्तव में अंग-प्रत्यंग, तथा त्वचा, मांस आदि का मिश्रित समूह है, उसी तरह विराट्-शरीर पंच भूतादि समस्त पदार्थों का मिश्रित समूह है।

(३५) देखो, भूगोल को जल आवृत्त किये हुए है, और जल-वृत्त को वायुमंडल घेरे हुए है, तथा अग्नि-मंडल पर प्रथम आकाश-लोक है। इसी प्रकार लोक के बाद लोक को जान लो। जो समूह रूप से एक ईश्वरीय शरीर है, जिसको विराट् भगवान् कहते हैं।

(३६) इस ब्रह्मांड की उपमा प्याज के सदृश है, जो छिल्के पर छिल्के के समान एक दूसरे को परस्पर घेरे हुए है। इसी प्रकार यह विराट् शरीर तत्त्व के बाद तत्त्व तथा लोक के बाद लोक से घिरा हुआ मनुष्य-शरीरवत् है। यद्यपि उसके अंग-प्रत्यंग अलग-अलग दिखाई देते हैं, जैसा कि वैज्ञानिकों ने इसकी विवेचना सविस्तर की है, तो भी अंतर परस्पर इस प्रकार का है, जैसा कि मानवीय शरीर का उसके अपने प्रत्येक अंग से होता है, जिसकी विवेचना वैद्यक-शास्त्र में वैद्य लोग करते हैं। परंतु जिस प्रकार सब मानवीय अंग परस्पर मिलकर समूह-रूप से एक मानवीय शरीर है, उसी प्रकार समस्त पदार्थ मिलकर समूह-रूप से एक विराट् शरीर है।

(३७) यह नहीं गुमान करना चाहिये कि हमको सब

पदार्थ, पृथिवी, जल-वायु और उनकी मिश्रित वस्तुएँ जब पृथक्-पृथक् दिखाई देती हैं, तो किस प्रकार हम इन सबको समूह-रूप से विराट् का शरीर निश्चय करें? तो सुनो, चूँकि मनुष्य में हाथ, पैर, चक्षु इत्यादि अलग-अलग दिखाई देते हैं, किंतु जब प्रश्न होता है कि तुमने क्या देखा, तो सर्व-साधारण यही उत्तर देते हैं कि एक अकेला मनुष्य देखा है। इसी प्रकार इन समस्त पदार्थों में तत्त्ववेत्ता एक अकेले विराट् पुरुष को देखते हैं। निदान, जिस संबंध व नाते से भिन्न-भिन्न अंगों को सर्व-साधारण एक मनुष्य करके देखते हैं, उसी प्रकार हरएक पदार्थ का दूसरे से पारस्परिक संबंध व संपर्क है, जिसके कारण ब्रह्मविद्या के आचार्य इसको एक अकेला विराट् शरीर देखते हैं।

(३८) यद्यपि यह विराट् भगवान् गोलाकार प्रतीत होता है, तथापि ठीक-ठीक मानवीय देह का नमूना (प्रतिमा) है, क्योंकि आकाश कपाल-समान है, पर्वत अस्थि-समान है, वायु प्राण-समान है, और नदियाँ-नहरें नस-नाड़ियों के समान हैं, नक्षत्र इंद्रियों के समान हैं, वनस्पतियाँ बाल व रोम के समान हैं और खनिज पदार्थ स्थूल अंगो के समान हैं। इसी प्रकार और समझ लो।

(३९) वैज्ञानिकों ने यद्यपि पदार्थ-विवेचना में बहुत प्रयत्न किया, तथापि उनको यह भेद विशेष मालूम नहीं हुआ कि यह एक अकेला विराट् शरीर है। और कारण इस अज्ञानता का

वैज्ञानिकों की संकुचित दृष्टि है, क्योंकि उन्होंने केवल तरल, स्थूल और ऊष्णता व शीतलता पर ही संतोष कर लिया। यद्यपि ज्योतिषियों ने नक्षत्रों के प्रभाव के अधीन भौतिक पदार्थों को देखा, और निचले पितरों का ऊपर के पितरों के साथ संबंध सिद्ध किया, तथापि अंत में वे भी इस अंधेपन में रहे। इसी तरह विद्वानों व बुद्धिमानों पर कुछ-कुछ भेद स्पष्ट हुए, किंतु पूर्ण जानकारी उस विराट् की उनको भी न हुई।

(४०) ब्रह्मविद्या के आचार्य कहते हैं कि विराट् जीवित पुरुष है, क्योंकि हम धरती को देखते हैं कि यदि उसमें बीज बोया जाय, तो उपज होती है। और, जहाँ लोना आदि के कारण भूमि बंजर (ऊसर) हो जाती है, वहाँ फिर कोई उपज नहीं होती। इस का उदाहरण जीवित मनुष्य के देह में प्रत्यक्ष दिखाई देता है। चुनाँचि मनुष्य-देह में रोमों व बालों का उगना प्रत्यक्ष है। किंतु जहाँ कुछ भाग जल जाय, या किसी रोग से रोगी हो जाय, तो ऐसा नहीं होता, अर्थात् रोम (बाल) की उत्पत्ति वहाँ नहीं होती। इसी तरह लोना आदिक भी वास्तव में भूमि के रोग हैं। वहाँ भी घास-पात आदि उत्पन्न नहीं होते। इस कारण से भूमि में उत्पन्न-शक्ति सिद्ध है।

(४१) जिस तरह भूमि में उत्पन्न-शक्ति प्रत्यक्ष है, उसी तरह उसमें पाचन-शक्ति भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि मृतक जब उसमें गाड़ दिया जाता है, तो कुछ काल के बाद वह पृथिवी का अंग ऐसे बन जाता है, जैसे मनुष्य-देह में अन्न (भोजन) देह

का अंग हो जाता है। इसके अतिरिक्त भूकंप प्रायः देखा जाता है, इससे इसमें संकल्प-जन्य क्रिया सिद्ध है।

(४२) ग्रह और नक्षत्रों की नियम-बद्ध गति प्रत्यक्ष है। यह उसी प्रकार की चाल है, जैसे कि हृदय की धड़कन व विराट् के नसों की फड़कन है। इसलिये प्राण या जीवन-शक्ति इस विराट् में दिखाई देती है।

(४३) जो व्यक्ति इस विराट् भगवान् की दशाओं व अवस्थाओं पर ध्यान-पूर्वक सोचेगा, तो वह वर्षा का बरसना, वायु का सरसराना, बिजली का कड़कना और तारों का टूटना इत्यादि गुणों या विशेषणों से जान सकता है कि यह विराट् शरीर एक अकेला जीवित पुरुष है। और, संवेदना तथा चेष्टा उसमें संकल्प-जन्य है, क्योंकि ये अवस्थाएँ यदि स्वाभाविक होतीं, तो नित्य होतीं। और, जब कि वे नित्य नहीं और स्वाभाविक नहीं, तो संकल्प-जन्य हैं। और, पूरी-पूरी युक्ति विराट् भगवान् के जीवन-संबंध में कुछ विशेष तर्कों पर निर्भर है, जिसका वर्णन इन थोड़े-से पृष्ठों में समा नहीं सकता। इसकी जिसको इच्छा हो, वह संस्कृत के बृहद् ग्रंथों में देख ले।

(४४) निदान, ब्रह्मविद्या में हमें यह स्पष्ट हो चुका है कि यह विराट् शरीर उसी प्रकार जीवित है, जिस प्रकार मानव शरीर जीवित है। और प्रत्यक्ष है कि मनुष्य-शरीर पर अंत[illegible] की प्रेरणा के बाद ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों की चे[illegible]

है। इसी तरह विराट् शरीर में भी हिरण्यगर्भ की प्रेरणा के बाद पूर्व कथित इंद्रियों की चेष्टा होती है।

(४५) जिस तरह मनुष्य अंतःकरण की उपाधि व अभिमान के कारण इस छोटे-से देह में सोचता-विचारता है, उसी तरह ईश्वर भी हिरण्यगर्भ के कारण इस विराट् शरीर में सोचता-विचारता है। और उक्त विचित्र शक्तियाँ, जो मनुष्य में हैं, वे ही इस ईश्वर में हैं। इस सिद्धांत पर बहुत-से शास्त्रवेत्ता भी सहमत हैं, क्योंकि हमने मुतनब्बी* व शम्स बाज़गा नामी पुस्तकों में देखा है कि वह आकाश में चित्र छपने या छापनेवाली शक्ति को मानते हैं।

(४६) जिस प्रकार सुषुप्ति में मनुष्य के अंतःकरण की अवस्था केवल अज्ञानता की होती है, उसी प्रकार विराट् के समष्टी अंतःकरण अर्थात् हिरण्यगर्भ की भी एक अवस्था है, जिसको अव्याकृत बोलते हैं। इस कारण से ऊपर की अवस्थाएँ ठीक-ठीक निचली अवस्थाओं के अनुसार हैं। और मनुष्य ठीक-ठीक ईश्वर की प्रतिमा व रूप है। यही कारण है कि तत्त्ववेत्ता मनुष्य को ईश्वर का रूप या प्रतिमा वर्णन करते हैं। इससे इनकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि हमने (अर्थात् बाबा नगीनासिंह वेदी ने) इस तत्त्व को प्रत्यक्ष अनुभव किया है।

(४७) जिस तरह मनुष्य-योनि में तीन अवस्थाएँ हैं, अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। उसी तरह ईश्वर में भी तीन अवस्थाएँ

* ये दोनों पुस्तकें अ़रबी भाषा के प्रसिद्ध लेखकों की हैं।

हैं, अर्थात् बाह्य (जाग्रत्) अवस्था, भीतरी (स्वप्न) अवस्था और अव्यक्त (सुषुप्ति) अवस्था। जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्था में भगवत्-ज्ञान की यात्रा चक्षु तक होती है, उसी प्रकार विराट् की बाह्य अवस्थारूप जाग्रत् में भगवत्-ज्ञान की यात्रा सूर्य तक होती है, क्योंकि सूर्य वास्तव में ईश्वर का चक्षु है।

(४८) भगवत्-ज्ञान की निचले लोकों की यात्रा में हम वर्णन कर चुके हैं कि जब बच्चा गर्भ से निकलता है, तो भगवत्-ज्ञान झटपट चक्षु में आ जाता है। उसी तरह जब यह विराट् अव्यक्त से बाह्य अवस्था में आता है, तो भगवत्-ज्ञान झटपट सूर्य तक पहुँच जाता है, और सब बाह्य पदार्थों को देखता है। इसी कारण श्रुति भगवती विराट् की बाह्य अवस्था में परमात्मा का स्थान सूर्य नियत करती है। और, ब्राह्मण लोग इसी कारण प्रातःकाल सूर्य को उपास्य मानकर उसके द्वारा भगवान् की उपासना और पूजा करते हैं।

(४९) यद्यपि उपर्युक्त नियमानुसार भगवत्-ज्ञान का पूर्ण अभिमान या अधिकार सूर्य तक होता है, तथापि जिस प्रकार निचले लोकों के भ्रमण में जिह्वा, कान, नाक आदि में भी भगवत्-ज्ञान यात्री होता है; उसी प्रकार अग्नि, जल और वायु आदि वस्तुओं में भी स्थित भगवत्-ज्ञान कुछ-कुछ कार्य विशेष इन पंचभूतों द्वारा करता है, जैसे अन्न का खाना व स्वाद लेना अग्नि-तत्त्व द्वारा होता है। इसी कारण ब्राह्मण लोग ईश्वर-परमात्मा की प्रसन्नतार्थ अग्नि में हवन करते हैं।

(५०) निदान, विराट् भगवान् के कार्य-विशेष तत्त्वों द्वारा इन्द्रियों के कार्य-विशेष के समान पृथक्-पृथक् हैं, और इसकी व्याख्या वैश्वानरी विद्या में जो संस्कृत-भाषा में इस विद्या से भिन्न वर्णित है, वहाँ से ढूँढ़नी चाहिए।

(५१) यद्यपि वैश्वानरी विद्या संस्कृत में एक बृहत् शास्त्र है, तथापि हम समूह-रूप से उस पर संकेत करते हैं। देखो, जैसे जब तुम ओंकार लिखना चाहते हो, तो पहले तुम्हारे अंतःकरण में संकल्प-शक्ति उठती है, उसके बाद उसका प्रभाव मस्तिष्क में होता है, और वहाँ ओंकार की आकृति की कल्पना होती है। उसके बाद नस, पट्ठा, उँगली और लेखनी गतिशील होते हुए चक्षु द्वारा पट्टी या कागज़ पर मस्तिष्क में कल्पित ओंकार की आकृति के अनुसार बाह्य ओंकार की आकृति उत्पन्न करते हैं। वैसे ही जब तुम चाहते हो कि कुछ वस्तु उत्पन्न हो, तो पहले हिरण्यगर्भ में संकल्प उठता है, वहाँ से उसका प्रभाव विराट् के कपाल में, जो ईश्वर का मस्तिष्क है, होता है, और जिस वस्तु की इच्छा होती है, उसकी कल्पना होती है कि इस समय ये वनस्पतियाँ या ये वृक्ष उत्पन्न होने चाहिएँ, और फिर नक्षत्रों के द्वारा उसका प्रभाव पृथिवीरूपी पट्टी पर पहुँचता है। और, लेखनी अथवा चार तत्त्वों से सूर्य द्वारा उसकी उत्पति बाह्य में होती है, और वस्तु उत्पन्न हो जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस तरह तुम निचली गति में ओंकार लिखते हो, उसी तरह ऊपर की गति में तुम ही वस्तु उत्पन्न करते हो।

(५२) निदान, पत्र-व्यवहार और वनस्पति, खनिज पदार्थ व प्राणियों की उत्पत्ति, सब-की-सब भगवत्-ज्ञान ही करता है। किंतु पत्र-व्यवहार मनुष्य की पदवी से और उक्त त्रिवर्ग की उत्पत्ति ईश्वरीय पदवी से करता है। अतः हर पदवी के संबंध में साधन, नाम और विभूतियाँ पृथक्-पृथक् हैं, और वास्तव में भूमा व नामी एक है।

(५३) यह नहीं भ्रम करना चाहिये कि पत्र-व्यवहार तो प्रत्यक्ष हम करते हैं और उक्त त्रिवर्ग-उत्पत्ति हम नहीं करते, क्योंकि हमारी सामर्थ्य से बाहर है। बल्कि यह विचित्र रहस्य भगवत्-ज्ञान का है। जैसा कि स्वप्न में प्रत्यक्ष दीखता है कि समस्त स्वप्न-संसार का कारण यही भगवत्-ज्ञान है, किंतु स्वप्न-संसार में अपनी स्वप्न-आकृति की उत्पत्ति के बाद वही भगवत्-ज्ञान स्वप्न-संसार की उत्पत्ति अपने सामर्थ्य से बाहर देखता है।

(५४) ब्रह्मविद्या के आचार्य कहते हैं कि शब्द 'सामर्थ्य' वास्तव में अर्थ से बना है। अतः भगवत्-ज्ञान जब किसी क्रिया को मनुष्य के हितार्थ जतलाता है तथा उसके बाद मानुषी संकल्प को उठाता है और फिर मानुषी प्रकृति द्वारा उसे पूर्ण करता है, तो उसे सामर्थ्य बोलते हैं, क्योंकि मानुषी संकल्प द्वारा अर्थ-अनर्थ की कल्पना के बाद उस (क्रिया) की उत्पत्ति और पूर्ति होती है। परंतु जहाँ संकल्प के केवल हिरण्य-गर्भ या अविद्या में होने से मानुषी अंतःकरण के साधन विना

क्रिया की उत्पत्ति व पूर्ति होती है, वहाँ शब्द 'सामर्थ्य' नहीं बोला जाता है। उदाहरण-रूप से, स्वप्नावस्था में स्वप्न-संसार का कारण भगवत्-ज्ञान है, किंतु उसका प्रादुर्भाव चूँकि मानुषी संकल्प द्वारा और अर्थ-अनर्थ के विवेक से नहीं होता, इसलिये उसे 'सामर्थ्य' के बाहर समझा जाता है। वास्तव में स्वप्न-संसार का संकल्प भगवत्-ज्ञान में ही होता है। इस विचित्र गुप्त रहस्य के कारण मनुष्य उक्त त्रिवर्ग की उत्पत्ति को अपने सामर्थ्य से बाहर समझता है। परंतु निकास की दृष्टि से समस्त कार्य (उत्पत्ति आदि) उसी भगवत्-ज्ञान के सामर्थ्य से होता है, और यह गुप्त रहस्य भगवत्-ज्ञान का है, जिसमें बुद्धिमानों की बुद्धि चकित है।

(५५) इसी प्रकार ईश्वर-पदवी में प्रथम संकल्प हिरण्य-गर्भ में होता है, और विराट् शरीर के करण तथा इंद्रियों द्वारा उस संकल्प का स्पष्टीकरण एवं पूर्ति होती है। और, मानुषी पदवी में प्रथम संकल्प अंतःकरण द्वारा होता है, और उसका स्पष्टीकरण व पूर्ति मानुषीकरण व इंद्रियों द्वारा होती है, अतः अपने निजी संकल्प व अन्य के संकल्प के भेद और संबंध से सामर्थ्य व असामर्थ्य का विवेक होता है। पस इससे इतर कुछ नहीं।

(५६) ब्रह्मविद्या के आचार्य यह भी कहते हैं कि यद्यपि संकल्प का अधिष्ठान अंतःकरण है, क्योंकि संकल्प की असलियत अंतःकरण की तरंग है, तथापि संकल्प का प्रेरक भगवत्-ज्ञान है। इसलिये असली निर्माता या प्रेरक की दृष्टि से संकल्पकर्त्ता वास्तव में भगवत्-

ज्ञान है, अंतःकरण नहीं होता। और चूँकि संकल्प का अधिष्ठान (अंतःकरण) व्यष्टि और समष्टि के भेद से दो प्रकार का होता है, अर्थात् मानुषी अंतःकरण और ईश्वरीय अंतःकरण। इसलिये एक अकेला ज्ञान संकल्प के विशेषण से भिन्न-भिन्न नाम और मानुषी व ईश्वरीय गुणों से गुणवान् होता है। अर्थात् भगवत्-ज्ञान जब मानुषी अंतःकरण में संकल्प की प्रेरणा करता है, तो इस संकल्प की दृष्टि से यही भगवत्-ज्ञान मनुष्य कहलाता है। और, जब यही भगवत्-ज्ञान हिरण्यगर्भ में संकल्प की प्रेरणा करता है, तो इस संकल्प की दृष्टि से यही भगवत्-ज्ञान ईश्वर कहलाता है। उदाहरणार्थ, एक अकेला व्यक्ति जब पत्र-व्यवहार करता है, तो लेखक या मुंशी कहलाता है, और जब सिलाई का कार्य करता है, तो दर्जी बोला जाता है। वास्तव में मनुष्य के व्यक्तित्व में अंतर नहीं होता। वरन् पत्र-व्यवहार और सिलाई की दृष्टि से लेखक और दर्जी के भिन्न-भिन्न नाम व गुण (उसमें) आरोपित होते हैं। इसी तरह एक अकेला भगवत्-ज्ञान मानुषी और ईश्वरीय संकल्प की उपाधि व प्रेरणा की दृष्टि से मनुष्य और ईश्वर के पृथक्-पृथक् नाम और गुण को प्राप्त होता है। वास्तव में वही भगवत्-ज्ञान मनुष्य है और वही ईश्वर है।

(५७) ब्रह्मविद्या के आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार संकल्प का अधिष्ठान अंतःकरण है और संकल्पकर्त्ता भगवत्-ज्ञान है, उसी प्रकार अहंता के संकेत का अधिष्ठान वास्तव में अंतःकरण है, क्योंकि अंतःकरण की तरंग या वृत्ति का अहंकार

के संकेत की चेष्टा में उदय होना अहंता का स्वरूप है। परंतु अहंता के संकेत का लक्ष्य अंतःकरण नहीं, वरन् भगवत्-ज्ञान है, क्योंकि जब भगवत्-ज्ञान अंतःकरण की प्रेरणा अपने निजी संकेत से करता है, तो अंतःकरण में अहंकार के संकेत के रूप में एक तरंग उठती है; और, उसका समर्थन शाब्दिक जगत् में 'अहं' (मैं) शब्द से होता है, परंतु लक्ष्य उस (अहं) का वास्तव में भगवत्-ज्ञान होता है।

(५८) इसका दृष्टांत यह है कि जैसा शब्द वास्तव में एक वाक्य विशेष है, जो उच्चारण के स्वर में बोला जाता है, और वह एक वायु की तरंग है, जो कंठ और जिह्वा के द्वारा प्रकट होती है। इसलिये शब्द का उपादान कारण और अधिष्ठान वास्तव में वायु है। और, यह वायु (शब्द का) लक्ष्यार्थ नहीं होती, वरन् लक्ष्यार्थ वह होता है, जिसके लिये कोष ने इस शब्द को नियत किया है। जैसे घोड़े शब्द का अर्थ पशु है, किंतु घोड़े शब्द का कारण वायु की तरंग है, जो कंठ और जिह्वा द्वारा उत्पन्न होती है, तो भी इससे पशु की पहचान या जानकारी प्राप्त होती है। इसी तरह अंतःकरण के प्रेरक से अहंकार के संकेत द्वारा अंतःकरण की चेष्टा या तरंग 'अहं' का स्वरूप है। परंतु लक्ष्य उसका वास्तव में अंतःकरण नहीं, बल्कि लक्ष्यार्थ ज्ञान का स्वरूप अर्थात् आत्मा है, जो अंतःकरण का प्रेरक है।

(५९) यह भी भ्रम नहीं करना चाहिये कि यद्यपि उच्चारण के करण (साधन) जैसे कंठ और जिह्वा भिन्न-भिन्न हैं, तो

लक्ष्यार्थ में भी अंतर आ जावेगा। वरन् वही शब्द यदि देवदत्त और विष्णुदत्त के पृथक्-पृथक् कंठ से प्रकट हों, तो भी अर्थ एक ही रहते हैं। इसी तरह यद्यपि देवदत्त और विष्णुदत्त के अंतःकरण पृथक्-पृथक् हैं, और उनमें 'अहं' की तरंग पृथक्-पृथक् होती है, तो भी उन 'अहं' का लक्ष्यार्थ एक ज्ञान का स्वरूप है, इससे इतर कुछ नहीं।

(६०) जिस तरह देवदत्त और विष्णुदत्त के भिन्न-भिन्न अंतःकरणों में 'अहं' के संकेत बहुसंख्यक और पृथक्-पृथक् हैं, और उनका लक्ष्यार्थ एक अकेला ज्ञान है, उसी तरह मानुषी (व्यष्टि) अंतःकरण और ईश्वरीय (समष्टि) अंतःकरण भी पृथक्-पृथक् हैं और उनमें 'अहं' के संकेत भी पृथक्-पृथक् हैं, तो भी लक्ष्यार्थ एक अकेला (ज्ञान) है।

(६१) यद्यपि 'अहं' के समस्त संकेतों का लक्ष्यार्थ एक अकेला ज्ञान है, तथापि ज्ञान का विचित्र भेद यह है कि जिस अंतःकरण में 'अहं' के संकेत से अहंकार का लक्ष्यार्थ होता है, उसी अंतःकरण को उसके गुण और क्रियाओं के सहित ख़ुदी अर्थात् व्यक्तिगत भावना (अहंकार) का भ्रम करता है, और अपने आपको अंतःकरण तथा देह ख़्याल करता है। इस कारण से भिन्न-भिन्न अंतःकरण और देहों की दृष्टि से भगवत्-ज्ञान बहुसंख्यक प्रतीत होता है।

(६२) अंतःकरण में, जिसे अज्ञान जितना अधिक है, उसे उतना ही यह उक्त भ्रम अधिक प्रतीत होता है। और, वह स्वयं

भगवत्-ज्ञान को दूर अति दूर, स्थूल उपाधियों और अवस्थाओं में ले जाता है। जैसे जो मूर्ख है, वह देह को ही 'अहं' का लक्ष्यार्थ समझता है, क्योंकि अंतःकरण का संबंध देह से अभेदता का है, इसलिये वह देह से अभिन्न होता देह को ही अपना आप समझता है। और, जो अधिक मूर्ख है, वह पुत्र, कलत्र और संबंधियों को अपना आप समझता है। क्योंकि पुत्र की मृत्यु से अपनी मृत्यु (हानि) और पुत्र के जीवन और उन्नति से अपना जीवन व उन्नति (लाभ) ख़्याल करता है। और, फिर जो मध्यम श्रेणी के लोग हैं, और कुछ बुद्धि रखते हैं तथा शास्त्री ज्ञान आदि भी प्राप्त किये होते हैं, वे उक्त लोगों से आगे बढ़ जाते हैं। वे देह और अपने संबंधियों को अपना आप नहीं समझते, वरन् अंतःकरण और परिच्छिन्न व्यक्ति (मैं) को अपना आप समझते हैं, तो भी ज्ञान को अपना स्वरूप नहीं जानते, वरन् ज्ञान को अपना गुण समझते हैं। वास्तव में ये भी मूर्ख हैं, चाहे पूर्वोक्त मूर्खों की अपेक्षा ये लोग विद्वान् समझे जाते हैं; क्योंकि इनका अज्ञान अभी दूर नहीं हुआ।

(६३) जिन ज्ञानवानों को अधिक संयम और अभ्यास के बाद पूर्ण युक्ति-युक्त मनन से सिद्ध हुआ है कि 'अहं' का लक्ष्यार्थ वास्तव में भगवत्-ज्ञान है, और हमारा स्वरूप ठीक-ठीक वही ज्ञान है, कुछ विचित्र कल्पित संबंध से अंतःकरण और अंतःकरण के गुण तथा देह और देह के गुण हम में आरोपित

हैं, यही लोग वास्तव में ज्ञानवान् हैं, क्योंकि अज्ञानावरण इन लोगों का वास्तव में दूर हो जाता है।

(६४) यह विचित्र भेद उसी प्रकार का है कि जब स्वप्न में हमारी आकृति हमारी (जाग्रत् की) स्थूल आकृति के समान उत्पन्न होती है, तो नींद के कारण हमारा संबंध उस आकृति से अभेदता का होता है। इसी कारण से सोता हुआ मनुष्य अपने आपको जागता ख़्याल करता है। वास्तव में नींद बाह्य इंद्रियों की एक प्रकार की निवृत्ति है, और वह बाह्य (जाग्रत् की) आकृति गुण है, तथा जाग्रत् अवस्था इंद्रियों की प्रवृत्ति है, जो असली आकृति का गुण है, किंतु स्वप्न-काल में आत्मा का कल्पित संबंध स्वप्न-शरीर की इंद्रियों से होता है, इसलिये उसके गुण अपने गुण कल्पित कर लेता है। इसके गुह्य रहस्य 'मरातुलमारफ़त *' नामी ग्रंथ में, जो ब्रह्मविद्या के विषय में हमारी (बाबा नगीनासिंह की) तीसरी रचना है, अनुवादित दर्ज हैं, वहाँ ढूँढ़ना चाहिये।

(६५) जिस तरह स्वप्न-काल में तुमको स्वप्न-आकृति से कल्पित संबंध हो जाता है, उसी तरह जाग्रत्-काल में व्यक्ति-गत अंतःकरण से अब अंतःकरण की परिच्छिन्नता के कारण कल्पित संबंध होकर तुमको 'दासोहं' (परिच्छिन्नात्मा) का

---

* अनेक यत्न करने पर भी इस पुस्तक का अभी तक पता नहीं लगा। जिसके पास हो, वह यदि कृपा करके भेज दे, तो उसे भी शीघ्र प्रकाशित कर दिया जाय।

भ्रम होता है। और, जब तुम व्यक्तिगत अंतःकरण के संबंध को छोड़ जाते हो, और समष्टिगत अंतःकरण अर्थात् हिरण्यगर्भ से अभिमानी होते हो, तो उस दशा में समष्टिगत अंतःकरण से कल्पित संबंध होता है, इसी कारण वहाँ ईश्वरोऽहं (शिवोऽहं) का भ्रम होता है।

(६६) चूँकि व्यक्तिगत और समष्टिगत अंतःकरण तथा जाग्रत् व स्वप्न-आकृति का परस्पर कल्पित संबंध है, असली नहीं, इसलिये वास्तव में 'अहं' का लक्ष्यार्थ भगवत्-ज्ञान या आत्मा है, जो उक्त सब संबंधों से रहित व शुद्ध है। यही कारण है कि जब ज्ञानवान् असली अवस्था को जानते हैं, तो 'ज्ञानोऽहं' 'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा 'शिवोऽहं' ऐसा निश्चय करते हैं। इसका उदाहरण ज्ञानवान् यह देते हैं कि जैसे भ्रम-काल में रज्जु के सर्प में सर्प की कल्पना 'यह ठीक सर्प है' इस प्रकार के संकेत से होती है, और वास्तव में ठीक लक्ष्य वहाँ रज्जु है, तो भी 'यह सर्प है' इस प्रकार का निश्चय होता है। इसी तरह 'अहं' का लक्ष्यार्थ वास्तव में ज्ञान या ब्रह्म है, तो भी व्यष्टि समष्टि उपाधियों में (उपाधिवान्) निश्चय होता है।

(६७) भारतवर्ष के विद्वान् कहते हैं, और हम (बाबा नगीनासिंह) ने भी अनुभव से जाना है कि अभ्यासी या संयमी मनुष्य वेदांत-शास्त्र के निरंतर श्रवण, मनन और निदिध्यासन से चतुर्थ अवस्था में जाता है, उस समय यह कल्पित संबंध जीते जी उड़ जाता है। इसलिये 'शिवोऽहं' अथवा 'ब्रह्मास्मि' का

निश्चय साक्षत्कार से पूर्व इस भेद का साधन है, और साक्षात्कार के बाद यह (निश्चय) ज्ञान का फल है। इसी कारण वेद भगवान् विराट्-उपासना में यह आज्ञा देते हैं कि इस प्रकार उपासना करनी चाहिये कि जो "तेजोमय पुरुष इस आदित्य में प्रकाशमान है, वही मैं हूँ।" (तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। ईशावास्य मं० १६)। इस उपासना से परिच्छिन्न अपरिछिन्न (अथवा बद्ध मुक्त) हो जाता है, क्योंकि इस अभ्यास से यह कल्पित संबंध क्षीण हो जाता है।

(६८) गायत्री मंत्र जो हम लोगों का आरंभिक विश्वास है, इस उपासना पर संकेत करता है, क्योंकि गायत्री मंत्र का अर्थ यही है कि "मैं सूर्य की उस तेजोमयी विभूति का ध्यान करता हूँ, जो सूर्य में अभिमानी होकर सूर्य को प्रेरती है, और वही हमारे अंतःकरण में अभिमानी होकर हमारे अंतः-करण को प्रेरती है।"

(६९) आजकल के लोग इस प्रकार की उपासना से घृणा करते हैं। उन्होंने विदेशियों से, जो आत्मवेत्ता नहीं हैं, सुना है कि इस प्रकार का निश्चय या समर्थन अपने आपको ईश्वर मानना है (जो नास्तिकपन है), और वे लोग (इसलिये) यही पसंद करते हैं कि जो निर्विकार और निरवयव है, वही हमारा सच्चा ईश्वर है, और उसी को हम याद करते हैं। यद्यपि इस प्रकार का निश्चय या विश्वास वास्तव में कल्पित ईश्वर की

उपासना है, वास्तविक ईश्वर की उपासना नहीं, और स्पष्ट है कि कल्पित कोई पदार्थ नहीं, वरन् अभावमात्र है ; परंतु पूर्वोक्त उपासना विचार-दृष्टि से वास्तविक ईश्वर की उपासना है, क्योंकि यह उपासना सत्य वस्तु या सत् स्वरूप की निजी रुचि से है।

(७०) इस विषय में हम अधिक तर्क-वितर्क करना नहीं चाहते, क्योंकि अभी हमें उतना ही कथन करना चाहिए, जितना कि आप लोग समझ सकते हैं। विचारणीय विषय यह है कि जिस तरह निचली अवस्थाओं में ज्ञानदेव का व्यक्तिगत अंतःकरण तथा व्यक्तिगत देह से कल्पित संबंध होता है, उसी तरह ऊपर की अवस्थाओं में ज्ञानदेव को समष्टि अंतःकरण (हिरण्यगर्भ) और विराट् शरीर से कल्पित संबंध होता है। और, जिस तरह कुछ अंग मनुष्य के मुख्य (शासक) कुछ गौण (शासित) और कुछ सेवक हैं (मुख्य अंग वही होते हैं, जिनमें ज्ञान का प्रादुर्भाव पहले होता है, और फिर उनके द्वारा अन्य अंगों में, वह विभक्त होता है), उस कारण से विराट् भगवान् वरन् उसका प्रत्येक अंग क्या पाषाण, क्या शिला और क्या सूर्य उपास्य है, क्योंकि वे वास्तव में विराट् भगवान् के अंग हैं, जो ऊपर की पदवी में हैं। इसलिये प्रत्येक पदार्थ की उपासना मूर्ति-पूजा नहीं, बल्कि ईश्वरोपासना है।

"ब इज़्ज़त निगर दर मगस जोन्हार।
कि ओ हम दरीं बारगह मेहतरीस्त॥"

अर्थ—ख़बरदार ! मक्खी को भी सम्मान की दृष्टि से देख, क्योंकि वह भी ईश्वर के दरबार में अर्थात् ईश्वर के समीप उच्च पदवी रखती है, अर्थात् आदरणीय है।

(७१) देखो, जब हम किसी व्यक्ति की पूजा करते हैं, उसके चरण छूते हैं, और उससे कुछ प्रार्थना करते हैं, तो उसके चक्षु की ओर दृष्टि करते हुए विनय करते हैं। तो जैसे हम मनुष्य के चरणों को छूने से चरण-पूजक नहीं हो जाते, और चक्षु की ओर दृष्टि करने से चक्षु-उपासक नहीं हो जाते, वैसे ही विराट् भगवान् की उपासना के समय पाषाण-शिला पर हाथ रखने से हम पत्थर-पूजक नहीं हो जाते, और सूर्य की ओर दृष्टि करते समय सूर्योपासक नहीं हो जाते, वरन् जिस प्रकार मनुष्य की पूजा उसके चरणों पर गिरने से होती है, उसी प्रकार विराट् भगवान् की पूजा पाषाण और धरती की ओर सिर झुकाने से होती है।

(७२) यदि कोई व्यक्ति उसके चरण छूने के समय हम पर यह आपत्ति करे कि वह मनुष्य-पूजक नहीं, बल्कि चरण-पूजक है, तो यही समझा जावेगा कि उसकी संकुचित दृष्टि है, मनुष्य की पूर्ण मूर्ति को वह नहीं जानता, और न यह जानता है कि चरणों पर गिरना ही उपासना या पूजा है। और, इसी तरह पाषाण-शिला और पृथ्वी की ओर जब हम झुकते हैं, तो तुच्छ दृष्टि-युक्त विदेशी आपत्ति करते हैं कि हम पत्थर या पाषाण-पूजक हैं। पर हमें भली भाँति मालूम है कि वह विराट् भगवान्

की मूर्ति को पूरा-पूरा नहीं जानते, वरन् यह तो उपासना के स्वरूप के उत्तम रहस्य हैं। अतः हम शोक करते हैं कि वेद पर चलनेवाले हमारे भाई भी उनकी आपत्ति से बहक जाते हैं।

(७३) ए प्यारो! हमारे शास्त्र में उपासना तथा अभ्यास के जो-जो सिद्धांत हैं, उनके नियम तथा विधि वेद के अनुकूल ज्ञानकांड से निकाले गए हैं, और विदेशी लोग उनसे अभी परिचित नहीं हुए। और, चूँकि तुमने भी संस्कृत-भाषा का पठन-पाठन छोड़ दिया है, और अब अँगरेज़ी-फ़ारसी में ही प्रवृत्त रहते हो, इसलिए सर्व-साधारण में यह झगड़ा फैल गया है कि सत्य असत्य और असत्य सत्य मालूम होता है। तनिक ध्यान देकर उपासना के सिद्धांत उक्त बृहद् शास्त्र से सीखो, और विचार कर देखो कि सत्य क्या है और असत्य क्या है?

(७४) निदान, वेद में हम पर सिद्ध हुआ है कि उपासना केवल दो प्रकार की है, अर्थात् या तो सगुण की उपासना या निर्गुण की। चूँकि आधिभौतिक अवस्था में सिद्ध हुआ है कि भगवत्-ज्ञान पदार्थों के अणु-अणु तथा रोम-रोम (बाल-बाल) में व्यापक और उपाधि-युक्त है। और, चूँकि प्रत्येक रूप वास्तव में ज्ञान की आकृति तथा उपाधि है, अतः ज्ञानदेव वास्तव में हरएक पदार्थ का स्वरूप और आत्मा है, और हर रूप में परिच्छिन्न व बद्ध विद्यमान है, इस कारण मूर्ति-पूजा सगुण-उपासना है, और इसी को संस्कृत-भाषा में प्रतीक उपासना कहते हैं। और, निर्गुण उपासना अहं ब्रह्मास्मि के निश्चय विना नहीं

हो सकती, क्योंकि निर्गुण के अर्थ समस्त बंधनों तथा उपाधियों से शुद्ध और मुक्त होने के हैं। हाँ, यह स्पष्ट है कि इस अवस्था में उपासक और उपास्य का अंतर नहीं हो सकता। क्योंकि एक अकेली वस्तु उपाधियों के कारण विभिन्न हो सकती है, और उपाधियों तथा बंधनों के अभाव में कोई अंतर या भेद नहीं हो सकता, इसलिये निर्गुण उपासना वास्तव में 'अहं ब्रह्मास्मि' का निश्चय या 'अद्वैत अथवा एकमेवाद्वितीयं' का निश्चय है, और इसी को संस्कृत में अहंग्रह उपासना कहते हैं। इन दोनों प्रकार की उपासनाओं के अतिरिक्त और कोई तीसरी उपासना कल्पित है, वास्तविक नहीं। अतः जो लोग सगुण-उपासना में मूर्ति-पूजन की आपत्ति और निर्गुण-उपासना में ईश्वरीय अभिमान की आपत्ति करते हैं, वे सब भ्रम और अज्ञान या अंधकार में हैं। वे उन्क़ा नामी (एक कल्पित) पक्षी का शिकार चाहते हैं, जो कदापि प्राप्त नहीं होता। इसलिये वे सदैव लालुप और खाली हाथ रहते हैं।

(७५) जिन लोगों ने उक्त दोनों प्रकार की उपासना के अतिरिक्त अन्य उपासना की विधियाँ निकाली हैं, और उन पर नई-नई पुस्तकें रची हैं, उन्होंने उक्त कल्पित पक्षी (हुमा वा उन्क़ा) को पकड़ने के लिये जाल फैलाया है। और, प्रत्यक्ष है कि उक्त हुमा वा उन्क़ा पक्षी का नाम तो उनकी पुस्तकों में प्रसिद्ध है, पर उसका अस्तित्व और रूप बाह्य जगत् में पाया नहीं जाता। जो लोग इस प्रकार का शिकार करते हैं, वे सदैव पवन को मुट्ठी में लिया चाहते हैं।

"उन्क़ा शिकार कस न शवद् दाम बाज़चीं;
कईंजा हमेशा बाद् बमुश्त अस्त दाम रा।"

अर्थ—उन्क़ा पक्षी (जो कल्पितमात्र है, वस्तुतः नहीं) किसी के धोखे में नहीं आ सकता। इसलिये ऐ शिकारी! अपना (धोखे का) जाल हटा ले, क्योंकि यहाँ पर जाल सदैव ख़ाली रहेगा। जाल में शिकार के स्थान पर वायु होगी, अर्थात् तुम्हारी सारी चालाकी व धोखा बेकार जायगा।

(७६) इस कारण जो पुस्तक वेद के विरुद्ध जितनी कर्म-उपासना की विधि वर्णन करती है, वह बनावटी है, ईश्वर-कृत या असली नहीं। और, जितने सिद्धांत वह वेदानुकूल प्रतिपादन करती है, उतनी ही वह ईश्वर-कृत है, क्योंकि वह ईश्वर-वाक्य का अनुवाद होता है। इसलिये वेद के अतिरिक्त उपासना की जो बनावटी विधि है, वह ठीक नहीं, और मोक्षप्रद भी नहीं है। सगुण-उपासना व निर्गुण-उपासना वास्तव में ब्रह्म-उपासना है। चूँकि उपाधियों में मूर्तियाँ पृथक्-पृथक् हैं, उन उपाधियों की दृष्टि से इस ज्ञानदेव का नाम उस पदार्थ के देवता का होता है। जैसे जल में परिच्छिन्न आत्मा का नाम वरुण-देवता कहलता है, और अग्नि में परिच्छिन्न आत्मा का नाम अग्नि-देवता। इसी प्रकार ऊपर की (आधिदैविक) अवस्था में अनंत नाम और पद हैं, और ऊपर की उपाधियों और नामों की दृष्टि से वे पूज्य हैं। पस, इसी प्रकार और समझ लो।

(७७) अब आप लोगों ने तत्त्ववेत्ताओं से सुना होगा कि

वह आप ही उपासक और आप ही उपास्य है। आप ही पूजक (भक्त) और आप ही पूज्य (भगवान्) है। वास्तव में उपाधियों और बंधनों में ही ऐसा हो सकता है, क्योंकि ऊपर की (आधिदैविक) उपाधियों के कारण वह पूज्य है और नीचे की (आधिभौतिक व आध्यात्मिक) उपाधियों के कारण वही पूजक है। अतः उक्त तत्त्ववेत्ताओं के वचनों से इनकार नहीं करना चाहिए— यही सत्य है।

(७८) तात्पर्य यह कि विराट् भगवान् मनुष्यवत् भौतिक (समष्टि-जाग्रत्) अवस्था में विचित्र क्रियाओं व गुणों से युक्त दिखाई देते हैं। किंतु जब ज्ञानदेव इस विराट् शरीर की बाह्य (भौतिक) अवस्था से उपराम होते हैं, तो आदित्य व पंच-भूतों से संबंध नितांत छोड़ देते हैं, और हिरण्यगर्भ में अपना पूर्ण अभिमान या अधिकार रखते हैं। यह उसी प्रकार होता है, जैसा कि निचली अवस्था में वह (व्यष्टि) जाग्रत् से (व्यष्टि) स्वप्न या स्वप्न-संसार में जाते हैं। किंतु (व्यष्टि) स्वप्न में देह से संबंध नितांत नहीं छोड़ते, और इस भीतरी (समष्टि स्वप्न) अवस्था में बाह्य (समष्टि जाग्रत् के) देह से संबंध नितांत छोड़ जाते हैं। इस कारण से पृथ्वी, आकाश व सूर्यादि एकदम नष्ट हो जाते हैं। यही प्रलय की असलियत है।

(७९) चूँकि इस समय ज्ञानदेव का अभिमान हिरण्यगर्भ में होता है, यहाँ स्वर्ग-नरक, हिसाब-किताब, लेन-देन, नरक-मार्ग, पुण्य-पाप, पदवियाँ और शास्त्रानुकूल और शास्त्र-विरुद्ध

कर्मों की विचित्र घटनाओं का तमाशा होता है, जिसके विषय में एक बृहद् शास्त्र है। और, इसी अवस्था को संस्कृत-भाषा में परलोक बोलते हैं।

(८०) इस अवस्था में इस ज्ञानदेव का नाम सूत्रात्मा व अंतर्यामी है। श्रुति भगवती इसी को इन नामों से याद करती है, और यह तेजोमय देवताओं का लोक है, जिसे देव-लोक भी कहते हैं।

(८१) यह अवस्था काल की दृष्टि से इतनी लंबी या चिरस्थायी होती है कि अनेक ज्ञानवानों ने इसके नित्य व शाश्वत होने का भ्रम किया है। इसमें बाह्य (भौतिक) जगत् की अपेक्षा विचित्र घटनाएँ अत्यंत अधिक हैं, वरन् इसकी विचित्र घटनाएँ यदि स्पष्ट करके वर्णन की जायँ, तो न केवल सर्व-साधारण लोग ही, प्रत्युत मध्य श्रेणी के बुद्धिमान् भी इनके मानने से इनकार करेंगे, क्योंकि उसकी ये विचित्र घटनाएँ उनकी बुद्धि की सीमा से परे हैं। इसलिये हम इसमें अधिक विस्तार नहीं देते, वरन् इतना ही पर्याप्त है, जितना कि वे समझ सकते हैं।

(८२) जब ज्ञानदेव इस अवस्था से भी उपराम होते हैं, तो समष्टि सुषुप्ति अर्थात् अव्याकृत अवस्था में चले जाते हैं। इस अवस्था में स्वर्ग-नरक, देवता व दिव्य व्यक्तियाँ भी नष्ट या लोप हो जाती हैं। यह वैसी ही अवस्था होती है, जैसी कि निचली अवस्था में घनसुषुप्ति के समय होती है।

(८३) यद्यपि समस्त बाह्य व भीतर (जाग्रत्-स्वप्न) जगत् के पदार्थ नष्ट या लोप हो जाते हैं, किंतु सब-के-सब शक्ति वा बीज के रूप से उस परमात्मा में लीन रहते हैं, जैसे बीज में वृक्ष सूक्ष्म रूप से स्थित रहता है। इसी कारण अव्याकृत अवस्था समस्त बाह्याभ्यंतर जगत् के पदार्थों का बीज या कारण कही जाती है, और इसी हेतु उसको (समष्टि) कारण-शरीर कहते हैं।

(८४) अभिप्राय यह कि आकृति का लोप प्रत्यक्ष रूप से अथवा क्रिया के रूप से तो हो जाता है, किंतु शक्ति-रूप या बीज-रूप से नहीं होता। इसी कारण उसका नाम अव्याकृत होता है। और भी उसके बहुत-से नाम हैं, जैसे अप्रकट-स्वरूप, गुप्त-स्वरूप, कारण-स्वरूप, बीज-स्वरूप, जगत्-कारण, अज्ञान इत्यादि।

(८५) परिणाम इस कथन का यह है कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, ये तीन अवस्थाएँ हैं। इनमें से प्रत्येक दो प्रकार की हैं—व्यष्टि या समष्टि। इस प्रकार छ अवस्थाएँ हुईं, और वृत्तवत् उसका दृष्टांत है, जिसमें ऊपर और नीचे के दो अयन हैं, और प्रत्येक अयन (वृत्तार्द्ध) तीन-तीन अवस्थाओं से युक्त है, और एक अकेले ज्ञानदेव का इस वृत्त में कभी ऊपर के अयन और कभी निचले अयन में गमनागमन होता है, जिसका ब्योरा विस्तार-पूर्वक ऊपर दिया गया है। इस प्रकार पुनः-पुनः ऊर्द्ध और अधोगति होती है। इसी को

संस्कृत-भाषा में संसार-चक्र कहते हैं, और यही संसार-चक्र आवागमन कहलाता है, और यही वास्तव में बंधन है।

(८६) यह भ्रम न करना चाहिए कि यह आवागमन का बंधन वास्तविक या सत्य है, वरन् कल्पित व प्रतीति-मात्र है। क्योंकि हमने पहले उपदेशों में इसका उपादान कारण संकल्प या ख़्याल सिद्ध किया है, और जतला दिया है कि ख़्याल या संकल्प ही है, जो हर आकृति में तदाकार होता हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। जब वह संकल्प दृढ़ होता है, तो वास्तविक दिखाई देता है। अतः इस बंधन से मुक्ति का मार्ग संकल्प या ख़्याल के निरोध से इतर और कोई नहीं। यह तब होता है कि पहले कर्मकांड-शास्त्र की आज्ञानुसार ख़्याल को छोटे-बड़े पापों के मल से रहित व शुद्ध किया जाय, और अंतःकरण से नीच तथा हानिकारक भावों को निकाल दिया जाय, फिर शुद्ध तथा मोक्षप्रद भावों से आभूषित किया जाय। इस प्रकार के ज्ञान से भगवत्-ज्ञान, जो ज्योतिषां ज्योति है, उसके साक्षात्कारार्थ अंतःकरण को लगाया जाय, और फिर उसमें पूर्ण तल्लीनता प्राप्त की जाय, जिसको समाधि कहते हैं। पूर्ण अभ्यास व संयम के बाद इस जीवन में ही संकल्प रुक जाता है, और समस्त आकृतियों से शुद्ध होता तत्काल ज्योतिषां ज्योति शेष रह जाता है, और संकल्प-रहित हुआ शुद्ध या एक अद्वितीय हो जाता है। यद्यपि प्रारब्ध भोगों के कारण जीवन-पर्यंत संकल्प का कुछ भाग शेष रह जाता है, तथापि

समाधि-काल में उसका भी अभाव हो जाता है। इसी को चतुर्थ अवस्था (तुरीय) कहते हैं। ऐसा तुरीय-पद को पाया हुआ इसी जीवन में मुक्त होता व्यष्टि और समष्टि समस्त बंधनों से छूट जाता है। इसी को संस्कृत में जीवन्मुक्त कहते हैं। और मृत्यु के पश्चात् ऐसे ज्ञानवान् के संकल्प नितांत नष्ट हो जाते हैं। वह फिर (उक्त) बंधनों तथा अवस्थाओं में गमन नहीं करता, वरन् कैवल्य पद में रहता है। इसी को संस्कृत-भाषा में कैवल्य मुक्ति कहते हैं। अतः आप ही अपने ख़्याल से बद्ध और आप ही अपने ख़्याल से मुक्त हो जाता है। संकल्प या ख़्याल का निरोध अथवा नाश ही वास्तव में मुक्ति का साधन है। अतः ऐ प्यारो! आप भी अपने संकल्प को पवित्र रक्खो, और दृष्टि को भगवत्-ज्ञान के स्वरूप के ध्यान में भीतर ही भीतर ऐसे लगाओ कि पूर्ण तल्लीनता प्राप्त हो। उस समय तुम भी बद्ध से मुक्त हो जाओगे। यही वेद की शिक्षा का अंतिम लक्ष्य है। अब मैं 'ज्ञान के विचित्र रहस्य' नामी पुस्तक को समाप्त करता हूँ, और आशीर्वाद देता हूँ कि भगवत्-ज्ञान आप सज्जनों को अपने स्वरूप व प्रकाश में पूर्ण तल्लीनता दे और मुक्ति प्रदान करे। मुझको भी शुद्ध भावना से याद कर लिया करना। ईश्वर आपको आपके शुभ कर्मों का शुभ फल प्रदान करे। एवमस्तु।

ॐ सच्चिदानन्द परमात्मने नमः

ओं तत् सत्।